जीवन-परिमल

४-६ क्रमिक-पुस्तक-मालिका १९९१

— विषय —

ब्र० विमलाजी ठकार का शब्दाङ्कित चिन्तन : अध्यात्म–समग्रजीवनशील
(—तदन्तर्गत मानवीय जीवन-विकास एवं राष्ट्र तथा विश्व के हित—)
के सन्दर्भ में, तदनुरूप एवं आनुषङ्गिक समानधर्मी विशिष्ट चिन्तन
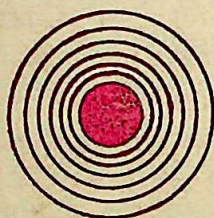
द्वैतबुद्धि के जैसी अद्वैत-बुद्धि भी अनर्थकारिणी है ।
द्वैतबुद्धि एकरस सृष्टि में भेद का भूत जगाती है,
जड़-चेतन के भेद की कल्पना से समरसता को रोकती है,
द्वैत के जगाये हुए और भक्ति के पाले हुए भेद के भूत को
सत्य समझ कर अद्वैतबुद्धि एकता का राग छेड़ती है ।

द्वैताद्वैत के भ्रमजाल से मुक्त हो जाओगे,
बुद्धि निर्भ्रान्त बना लोगे, तब अन्तरङ्ग में
सहजानन्द के पावन प्रभात का उदय होगा ।

—विमला—

["मौन के अनुनाद" में से]

"सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ॥"
(श्रीमद्‌भागवत)

[अज्ञानवश असत् (देह-मन व इन के विषयों में ही रमे रहने वाले) व्यक्तियों के प्रति किया गया जो संग संसृति (जन्म-मरण के प्रवाह) का कारण बनता है, वही सङ्ग यदि साधु (परमात्मसत्ता में अधिष्ठित बुद्धि-बोध-प्रज्ञा वाले सन्त) जनों के प्रति किया गया हो तो वह निःसङ्गता-रूप ही होता है; सत्सङ्ग निःसङ्गता है। सङ्ग यानी लगाव एवं सम्यक् गमन; सत् (तत्त्व) में सम्पूर्ण गतियाँ समा जाना सत्सङ्ग है।]

आवाहन !

"....भिक्षुओ ! जितने भी दिव्य अथवा मानुष बन्धन हैं, मैं उन सबसे मुक्त हूँ। तुम भी सभी दिव्य और मानुष बन्धनों से मुक्त हो जाओ। भिक्षुओ ! सब जनों के हित के लिये, सब जनों के सुख के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, सुख एवं हित के लिए विचरण करो। भिक्षुओ ! आदि में, मध्य में तथा अन्त में कल्याणकारक धर्म का उपदेश करो। अर्थ-सहित, व्यञ्जन-सहित, परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करो। ऐसे भी प्राणी हैं जिनके मन अधिक मलिन नहीं, धर्म सुनने से उन्हें लाभ होगा, वे धर्म को जानने वाले बनेंगे।" —भगवान् बुद्ध

युगधर्म करुणा

भगवान् बुद्धदेव 'दुनिया के प्रश्नों का हल कैसे निकलेगा' इसका चिन्तन करने के लिए निकले। उन्होंने चालीस उपवास किये। फिर उन्हें अन्तः प्रकाश प्राप्त हुआ, आँखें खुल गयीं। उन्होंने चारो तरफ़ पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर की ओर देखा।

एक बाजू उन्हें करुणा का दर्शन हुआ, दूसरी बाजू उन्होंने मैत्री देखी, तीसरी बाजू में आनन्द देखा और चौथी बाजू में उपदेश देखा; तब वे शान्त हो गये। उन्होंने कहा—"दुनिया का मसला हल करने की चाबी हाथ में आ गयी। कारुण्य का उदय होना चाहिए। सर्वत्र मैत्री-भाव बढ़ना चाहिये। दूसरे का सुख देखकर आनन्द होना चाहिये. दूसरा हमारा बुरा ही करता हो तो चिन्ता नहीं करनी चाहिये, वैर के प्रति उपेक्षा रहनी चाहिये। कुल मिलाकर सब ओर करुणा का दर्शन होना चाहिये।

बुद्ध देव के हृदय में करुणा का उदय हुआ। उसी का प्रचार करते-करते वे चालीस वर्ष घूमते रहे।

(मेलूर, मदुरा, ६/१/'५७) —विनोबा

सत्सङ्ग–प्रश्नोत्तरी

[जनवरी १९९१ में महाबलेश्वर (महाराष्ट्र) में हुए शिविर में जिज्ञासु-युवा मित्रों द्वारा पूछे गये कुछ प्रश्नों का श्र० विमलाजी द्वारा दिया हुआ सम्मिलित उत्तर, प्रश्न एवं अधिकांश उत्तर मूल मराठी से अनूदित]

प्रश्न १—भारत की वर्तमान सामाजिक-सांस्कृतिक-राजकीय स्थिति में हम युवक क्या करें ? किस तरह कर्मयोगी बनें—इसका मार्ग दिखाइये ।

प्रश्न २—धर्म की संकल्पना क्या है ? क्या सम्प्रदाय उससे अलग हैं ? मत-मतान्तरों के कोलाहल में हम असमञ्जस में पड़े हैं; कृपया समझाइये ।

प्रश्न ३—जे० कृष्णमूर्ति ने सम्पूर्ण जीवन में अवधान की कला जनता के सामने रखी । आचार्य रजनीश ने मुक्त स्वच्छन्द जीवन का प्रचार-प्रसार किया । श्री पाण्डुरङ्ग शास्त्री आठवले कहते हैं कि भक्ति के द्वारा ही जीवन में क्रान्ति-उत्क्रान्ति सम्भव है । विपश्यनाचार्य सत्यनारायण गोयंका मन में छिपी या दबाई हुई संस्कारमुक्ति के लिये विपश्यना का आग्रह रखते हैं, वही सच्चा धर्म है—ऐसा प्रतिपादन भी करते हैं । इन सारे मार्गों का समन्वय क्या सम्भव ही नहीं है ? हम किस व्यक्ति का और किस मार्ग का अनुसरण करें ?

उत्तर—आप किसी का भी अनुकरण या अनुसरण नहीं करें । आप आप बने रहें, और आपके भीतर जो सम्भावनायें हैं उन सम्भावनाओं को खिलने दें । आपके जीवन की सन्तृप्ति और परिपूर्त्ति आप में निहित सम्भावनाओं के समन्वित संवादी विकास में है, खिलने में है, आपका जीवन-पुष्प खिले ।

"नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्"

व्यक्ति-प्रामाण्य और ग्रन्थ-प्रामाण्य यह स्वयंप्रज्ञा का अनादर करना है । सुनने की इच्छा होती हो तो सुनें अवश्य, ग्रन्थ भी पढ़ें, लेकिन समझने के लिये सुनें-पढ़ें, संग्रह करने के लिये नहीं । सीखने के लिये

सुनें, पढ़ें, पर उसमें से कुछ कमा लेने या अनुकरण-अनुसरण करने के लिये नहीं। अनुकरण-अनुसरण की आवश्यकता तब पड़ती है जब अपनी समझ पर मनुष्य का भरोसा नहीं होता। विचारों का भरोसा नहीं होता। विचारों का भरोसा करने की बात मैं नहीं कह रही हूँ, समझ पर भरोसा। समझने की शक्ति मनुष्यमात्र में निहित है। शब्दों के (शब्दकोशों में लिखे हुए) अर्थों को ग्रहण करना-इसे मैं समझ नहीं कह रही हूँ।

जे० कृष्णमूर्ति आये, अपना जीवनसङ्गीत गाकर गये; रजनीशजी अपनी बात कह गये। यह तो होने ही वाला है आपकी ज़िन्दगी में श्री आठवलेजी हैं, गोयंकाजी हैं, ये 'विमलाजी' हैं। बहुत सारे "जी" आपके सामने हैं। पर, पहली बात यही समझें कि अनुकरण-अनुसरण नहीं करना है। वह आत्महनन है।

यह जो मत-मतान्तरों का कोलाहल आपको लगता है, वह क्यों लगता है? इसको आपने कभी सोचा है? जिज्ञासु युवकों से तो मैं निर्मम होकर बात करूँगी; दया-माया की अपेक्षा मुझसे नहीं रखियेगा। युवक में शक्ति होनी चाहिये सत्य को सुनने की, समझने की, जीने की। अनुकरण-अनुसरण-परम्परानुगतिकता का आग्रह युवा चित्त में नहीं होना चाहिये।

कह रही थी कि दुर्बल चित वालों को अपनी समझ पर भरोसा रखने का साहस नहीं होता, क्यों कि अपनी समझ पर भरोसा रखकर जीने में ठोकर भी खानी पड़ती है। अपयश का सामना करना पड़ता है। युवा हों तो वे यह सामना करें। ठोकरों से सीखें, अपयश से सीखें। जिज्ञासा सच्ची हो तो ग़लत रास्ते पर अधिक देर तक रहना सम्भव ही नहीं। जीवन परम प्रभु-विभु है, वह चैतन्यशक्ति का लीला-क्षेत्र है; जो कोई जीवन का अर्थ समझने के लिये निकलेगा, जीवन के मूलस्रोत की खोज में निकलेगा, वह कभी अकेला नहीं होता है। अखिल-निखिल जगत् के अणु-रेणु में चैतन्यशक्ति समायी हुई है जिसे भक्त लोग प्यार से 'परमात्मा' कहते हैं। वह कण-कण में व्याप्त होने के कारण, सर्वत्र-सब में-सर्वाकार होने के कारण, उपस्थित रहती है। जहाँ भी साधक होगा, वहाँ वह विराजमान है ही।

"उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः"

यह केवल वसुदेवपुत्र वासुदेव श्रीकृष्ण के लिये ही नहीं कहा गया है। यह तो—

"वासनाद् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वंभूतनिवासोऽसि वासुदेव! नमोऽस्तुते॥"

उस तीनों भुवनों में सर्वभूतों में निवास करती हुई वासुदेवी शक्ति के लिये कहा गया है।

प्रश्न है कि इतना जो आप सुनते हैं, उसमें से आपकी समझ क्या कहती है? (इस से आगे चलोगे मेरे साथ?) क्या सचमुच मुक्ति की आकांक्षा है? क्या सचमुच स्वाधीनता की आकांक्षा है? आप जो सब को सुनने के लिये जाते हैं सो क्यों जाते हैं? इस मत-मतान्तर के कोलाहल में आप क्यों जाते हैं? क्या चाहिये आपको? स्वाधीनता चाहिये? क्या आपकी कल्पना है कि कोई आपको उँगली पकड़ कर ले जायेगा और आपको स्वाधीन बनायेगा? स्वाधीनता यात्रा के अन्त में होगी कि यात्रा के प्रारम्भ में होगी? अपनी जिम्मेवारी किसी पर सौंप कर स्वाधीनता की खोज होगी? स्वाधीन बनना है और सुरक्षित भी रहना है—यह आन्तरविरोध हमारे हृदय में पड़ा हुआ है। 'खोज करनी है, लेकिन खोज करने पर क्या मिलेगा यह कोई पहले ही बता दे हमें।' सत्य अनन्त है, अनादि है—इसका भी स्वीकार है बुद्धि से। लेकिन फिर भी चाहते हैं कि उसके स्वरूप की कोई व्याख्या बता दे। और उसकी खोज करने पर हमारा जो परिवर्तन (transformation) होगा उसका खाका (blueprint) भी कोई हमें पकड़ा दे। किस क्रम में कौन-कौन सी अनुभूतियाँ आयेंगी—इस का Timetable भी बना दे।

अरे भाई! जो अनन्त है, जो अनादि है उसे आप कैसे बांधेंगे शब्दों में, कालक्रम में, आकार में या आप की अनुभूति में? आप क्या अनुभूतियों की खोज में, निकले हैं, या सत्य समझने के लिये निकले हैं? यदि समझने के लिये निकले हैं तो आप सब को सुनने के बाद उनकी तुलना (A comparative study of the great persons mentioned here, and of what they have said) करने के लिये नहीं बैठेंगे।

"इन्होंने यह कहा, उन्होंने वह कहा; इसमें किसने क्या कितना सच कहा?"—किसको पूछेंगे आप? और कोई नादान बनकर इस बारे में कुछ कह भी दे, तो उसकी बात आप क्यों मानेंगे? 'विमल वहन' ही क्यों न हो? उन सबका प्रामाण्य नहीं तो मेरा प्रामाण्य ही आप क्यों मानेंगे? बिनशर्त स्वाधीनता (unconditional freedom)—यही आप की खोज का विषय हो, तो कृष्णमूर्ति के निवेदनों में से उनका सार-आशय आप समझ लेंगे। वे कोई Philosophy तो नहीं कह गये हैं। उनके शब्द आत्मा के रहे, उनको किसी ढाँचे (structure) में नहीं बाँधा जा सकता। वह तो सहजता का आविष्कार था। .... तो यदि सर्वथा निपट स्वाधीनता—(unconditional freedom of being unprotected entirely, no protection from the past, and no investment for the future)—वर्तमान के साथ जीना—यह जो स्वाधीनता की चाबी बताते गये वे, उसे पकड़ कर देखें। यदि आपको वह चाह है।

भक्ति का जो सही अर्थ है—"Awareness of the nondual Reality"—वही तो ज्ञानेश्वर महाराज ने भी कहा न!

"जो नहीं पलभर विभक्त वह कहलाता भक्त।"

वह अनुसन्धानात्मिका भक्ति है; उसे पकड़ लीजिये। उससे अनुसन्धान रहेगा जीवन की समग्रता के साथ। Awareness of the wholeness of the life and dealing with the particular situation at the moment what you call the present. समग्र के साथ अनुसन्धान है, उसकी तरफ अवधान है, और जो कुछ विशिष्ट इकाई है—देश काल परिस्थिति के अनुसार जो कर्म आप के सामने खड़ा है, चुनौती खड़ी है, कुछ कठिनाईयाँ खड़ी हैं उनको प्रतिसाद दीजिये, उनसे निपटिये।

इसमें मुश्किल कहाँ होती है? आठवलेजी, कृष्णमूर्ति या अन्य व्यक्ति महत्त्व के नहीं हैं, महत्त्व की बात वह है जो वे कहते हैं। उसका गर्भित अर्थ पकड़ लें।...और इसलिए यह निर्णय आपकी अन्तः प्रेरणा से होने दीजिये। क्या चाहिये हमें? उसके लिये कितनी कीमत चुकाने की हमारी तैयारी है? उस पर चलने से जो परिणाम होंगे उन्हें सहन करने की हमारी शक्ति है या नहीं? इसको देख लीजिये। अपनी जिज्ञासा

का स्वरूप, अपनी साधना का साहस—इसे देखते-देखते चलियेगा तो कोई कोलाहल नहीं मिलेगा। आपको आधार चाहिये किसी व्यक्ति का, किसी प्रक्रिया का, क्रिया का। वैसा कोई आधार चाहिये तो लीजिये। वहाँ आत्मवञ्चना नहीं करनी है। स्वीकार करें कि "मुझे आधार चाहिये, अकेले एकाकी (alone) रहते हुए खोज करना मुझसे नहीं बन पड़ेगा।" तो आधार ले लीजिये। लेकिन अपनी आवश्यकता को सिद्धान्त मत बनाइये कि अध्यात्म में आधार लेना ही पड़ता है। ऐसा निष्कर्ष या सिद्धान्त सारी दुनिया के लिये मत बनाइये। उस निर्णय या निष्कर्ष के रूप में अपना समर्थन (self-justification) मत खड़ा कीजिये। और अपराधबोध (guilt-conscience) भी मत रखिये। हजारों कहते रहें कि आधार या आश्रय की आवश्यकता नहीं, पर आपको आवश्यकता है न! आपकी वह actuality है, तो लीजिये आधार। लेकिन कब तक आधार लेंगे? आधार कहते-कहते वह आश्रय बन जाता है। पहले ही समझ लीजिये, सोच लीजिये कि कब तक आधार लेना है? उसे छूटने देना है या नहीं? यह कौन तय करेगा? आपके लिये और कोई व्यक्ति यह तय नहीं कर सकता। वह आपको ही तय करना पड़ेगा।

पूछा गया है—धर्म की सङ्कल्पना क्या है? जिस अर्थ में आप पूछ रहे हैं वह धर्म मनुष्य के लिये है न! वह पृथ्वी का धर्म, जल का धर्म—इस अर्थ में नहीं। धर्म व नीतिशास्त्र मनुष्य के लिए हैं। क्योंकि वह समाज में रहना चाहता है। जिससे मानवता की धारणा हो, मानवता का विकास हो—"धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः"—जो जीवनशैली, जो मूल्य मानवता की, सामाजिकता की रक्षा करेंगे, विकास करेंगे उनका शब्दबद्ध स्वरूप ही धर्म है। सामाजिकता यानी पारस्परिकता, Resiprocity. आज की सामाजिक स्थिति में हमने, आपने, विज्ञान-यन्त्रविज्ञान ने पिछले दो सौ वर्षों से लेकर अब तक मनुष्य की जीवनशैली को कुछ निर्धारित कर दिया है। कुछ शैली गढ़ दी है। आज आपका, मेरा सम्बन्ध दुनिया के सभी देशों से है—आर्थिक दृष्टि से, राजनैतिक दृष्टि से, अनेक प्रकार के सांस्कृतिक लेन-देन की दृष्टि से हमारा सारी दुनिया से सम्बन्ध है। सारी दुनिया एक global village (भूमण्डलीय ग्राम) बन गयी है। आज के सन्दर्भ

में एक नया Ethos और नया Ethics बनेगा। क्या हजारों वर्ष पहले जो संकल्पनायें थीं वे जैसी की तैसी आज भी बनी रहेंगी ? और उन्हीं पर हम चल सकेंगे ? चाहे वे धर्म की संकल्पनायें हों, या अध्यात्म की हों। क्या आप यह समझते हैं कि अध्यात्म के बारे में अन्तिम शब्द कहा जा चुका है, या कभी कहा जा सकता है ? Do you really think that the final word about the nature of Reality has been said ? If the life is infinite how could the last or final word be said about anything ?

धर्म-अध्यात्म तो क्या, किसी भी विषय में अन्तिम शब्द नहीं कहा जा सकता है। इसलिये धर्म के सम्बन्ध में पहली संकल्पनायें जो भी हों; आज के सन्दर्भ में धर्म एक ही होगा—मानवधर्म। मानवता पर अधिष्ठित, विज्ञान पर आधारित, संस्कृति पर आधारित एक ही धर्म की संकल्पना की जा सकती है—एक विश्वधर्म, एक विश्वसंस्कृति, एक मानवधर्म। उसकी प्रसव-वेदना में आज हम सब हैं। आज प्रचलित जो साम्प्रदायिक या कौमी धर्म हैं—हिन्दू धर्म, सनातन धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, पारसी धर्म, सिख भी अपना पृथक् धर्म मानने लगे हैं—इन सबका क्या होगा ? उस मानव-समाज में क्या सामुदायिक एवं व्यक्तिगत व्यवहार तथा उपासना-आराधना में अपने-अपने जाति-वंश-सम्प्रदाय समुदायों से मिले हुए सङ्केत बने रहेंगे ? बस, यहां हमें धक्का लगता है। शायद युवकों के दिल में हिम्मत हो कि कम से कम बात तो सुनेंगे हमारी।

सम्प्रदायों की आवश्यकता वहाँ है जहाँ संस्कारों का सम्यक् प्रदान पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता रहता है। आपको कोई विशिष्ट योग-विधि-पद्धति सीखनी है—हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग, तन्त्र-प्रक्रिया आदि सीखनी है तो उनका एक-एक सम्प्रदाय है; उनमें कोई शिक्षक, आचार्य होगा, कोई विद्यार्थी होगा, उनके कोई अनुशासन होंगे; वह सब सीखना-सिखाना बन पड़ेगा। भारतीय संस्कृति के पास वेद-उपनिषदों का अपार ऐश्वर्य है। जिनके द्वारा वेद-उपनिषद् प्रकट या व्यक्त किये गये, वे 'हिन्दू' नहीं थे, वे 'आर्य' थे। बाद में सनातनी-संस्कृति के वंशधरों ने

उनका जतन किया, और फिर सिन्धु-तीर-वासी समाज उच्चारण-क्रम में 'हिन्दू' कहलाये, इसलिए सनातन धर्म हिन्दू धर्म कहलाने लगा। सनातनी संस्कृति के धारक समाज ने वेदोपनिषदों का धारण एवं जतन करके मानव जाति की बहुत बड़ी मौलिक सेवा की है। वैदिक शब्दों को कण्ठ में बहुत कुछ ज्यों का त्यों धारण करते हुए लिपि-विकास-क्रम तक लेते आये, लिपिबद्ध किया और उसके उच्चारण-रूप को भी सुरक्षित बनाये रखा। Indescribably valuable contribution to the human culture. क्योंकि यह सम्पत्ति सारी मानवजाति की है। उससे थोड़ा-थोड़ा (आंशिक, ऊपरी स्तर पर) लाभ भी उठाने लगे हैं।

सम्प्रदायों की आवश्यकता होती है विशिष्टताओं के जतन के लिए; उनके संरक्षण-संवर्धन के लिए सम्प्रदाय बनते हैं। सङ्गीत में जैसे 'घराने' चलते थे—आगरा घराना, ग्वालियर घराना, किराना घराना आदि। किन्तु उन विशिष्टताओं-पद्धतियों अदाओं में स्पष्ट अन्तर रहने पर भी, संगीत के मूलभूत सिद्धान्त, स्वयं स्वर, ताल, लय आदि एक ही रहते हैं। उनके रिश्तों (आरोह-अवरोह, द्रुत-विलम्बित आदि) को ये घराना-भेद तोड़ नहीं सकते। इसी तरह मानवीय-जीवन व चिन्तन की धारा में सम्प्रदाय तो रहेंगे। ईसाई धर्म में भी आज भी सम्प्रदाय भेद हैं—कैथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट, युनिटरी चर्च इत्यादि, मुसलमानों में शिया, सुन्नी, आदि हैं, जैनों में श्वेताम्बर-दिगम्बर स्थानकवासी और उनके अनेकों प्रभेद हैं, बौद्धों में महायान-हीनयान-थेरवादी आदि हैं।.... इस प्रकार, जहाँ विशिष्ट शास्त्र का अध्ययन करना एवं विशिष्ट पद्धति में चलना हो वहाँ सम्प्रदाय (Schools) चलते हैं, पाश्चात्य संस्कृति में Schools of Philosophy बने, अपने यहाँ नित्य का जीवन और बौद्धिक दर्शन कभी अलग नहीं रहे। अपनी संस्कृति पदार्थपरायण नहीं, जीवन-परायण है, त्यागपूर्वक उपभोग सिखाया गया है यहाँ, यह जीवनोपासक संस्कृति है।

इसलिये मेरे देखे आज के सन्दर्भ में एक विश्वधर्म, मानवधर्म बनने जा रहा है। धर्म की संकल्पना नये सन्दर्भ में, नये स्वरूप में, नई परिभाषा में अपने सामने आ रही है, आने वाली है। जो पहले वाले संगठित धर्म-सम्प्रदाय हैं वे अब उत्तरोत्तर व्यापक नहीं बनेंगे, उनके

प्रचार-प्रसार के प्रयास भी व्यर्थ जाने वाले हैं। Because organised Religion is no more relevant to the wholistic way of living of modern mankind. क्योंकि ये संगठित धर्म-सम्प्रदाय अब आधुनिक मनुष्य के लिये अपेक्षित समग्र-जीवन शैली में संगत या सम्बद्ध या उपयोगी नहीं रहे हैं। इस तथ्य को पहचानना चाहिये।

१९९० की जनवरी में दिल्ली में संसद-सदस्यों की एक बैठक में सभी पक्षों के प्रतिनिधि इकट्ठे हुए थे; मुझे वहाँ बुलाया गया था। तब मैंने उनसे कहा कि संविधान में से धारा १९ से लेकर २६ में से—एक clause—propagation of Religion (article) (धर्म का प्रचार) को हटा दीजिये। यदि आप इस देश में से साम्प्रदायिक दंगों को मिटाना चाहते हैं, तो प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय के लोगों की अपने-अपने धर्म का आचरण करने की स्वतन्त्रता तो बनाये रखिये, लेकिन धर्मप्रचार का शब्द हटा दीजिये। लेकिन आपको खुशी होगी सुन कर कि उनमें से एक भी भला आदमी मुझसे सहमत नहीं हुआ। क्योंकि भारत का बहुजन-समाज यह चाहेगा नहीं, और बहुजन समाज के "वोट्स्" के बिना राजनीतिक पक्ष जिन्दा नहीं रहते। ...मेरा कहना यही है कि—व्यक्तिगत एवं सामुदायिक रूप में अपना-अपना धर्म सब जीयें। बस प्रचार-प्रसार और धर्मपरिवर्तन कराने के प्रयास—इन तीनों की कानूनन मनाही कर दी जाय। यह मेरी माँग है भारत की राज्यसंस्था के सामने। विविधता को बचाना हो, और विविधता का संगीत एकता को समृद्ध बनावे—इसका रास्ता निकालना हो तो मुझे लगता है कि "विश्वात्मक देव", वैश्विकी दृष्टि, वैश्विकी वृत्ति की ही आराधना-उपासना करनी पड़ेगी।

आप पूछते हैं कि देश की वर्तमान परिस्थिति में युवक क्या करें? मार्गदर्शन करने को कहते हैं। भाई! मुझसे मार्गदर्शन न माँगें! हम (साठ पार कर चुके हुए) लोगों ने कैसा समाज बनाया है क्या तुम देख नहीं रहे हो! परन्तु फिर भी मुझे क्या लगता है वह कहती हूँ। आप सबसे मैत्री का, सख्य का सम्बन्ध है इसलिये सहचिन्तन के लिये कहती हूँ, मार्गदर्शन के लिये नहीं। आप मानें या न मानें, पर तथ्य है कि इस जीवन में दुनिया-भर घूमते हुए भी आज तक कभी किसी का मार्गदर्शक बनने का साहस मैंने किया नहीं। मैत्री सबसे रहती है; साथ

आकर रहने वाले, विश्व-कार्य में साथ देने वाले, काम करने वाले लोगों में से यदि कोई कुछ पूछता है तो सुझाव-सूचना दे देती हूँ। मेरे अपने जीवन की, अपनी अनुभूतियों की या व्यक्तित्व की छाया किसी पर न पड़े—यही मेरी उपासना रही है—प्रेम के कारण, स्नेह के कारण।

मुझे ऐसा लगता है कि आज की राजनीतिक परिस्थिति युवकों को असह्य होनी चाहिये। इस परिस्थिति में जो आन्तर्विरोध और विकृतियाँ हैं इनसे होने वाली वेदना असह्य नहीं बनती है तो समग्र क्रान्ति का, सम्पूर्ण क्रान्ति एवं पथपरिवर्तन का रास्ता नहीं खुलेगा। जिन्हें यह वेदना असह्य हुई हो ऐसे युवकों को इकट्ठे होना चाहिये। आज कोई राष्ट्रीय नेतृत्व नहीं है। कोई राजनीतिक या सामाजिक संगठन राष्ट्रीय वृत्ति एवं स्वर का नहीं है, जो युवकों का मुक्त मार्ग-दर्शन या पथ-प्रदर्शन कर सके। इसलिये रास्ता आपको निकालना है। भारत की सियासती आज़ादी के बाद सारी दुनिया से जो घनिष्ठ सम्बन्ध आया उस सम्बन्ध को हम पचा नहीं पाये। इसलिये बहुत सारी विकृतियाँ पनपी हैं।

अब आप कहाँ किस क्षेत्र में काम करना शुरू करोगे—यह खुद ही तय कर लो। आर्थिक क्षेत्र में? राजनीतिक क्षेत्र में? या सामाजिक क्षेत्र में? इसका कुछ निश्चय, निर्णय करना पड़ेगा। जिनका सांस्कृतिक और सामाजिक दिशा में काम करने का भरोसा हो, उनके लिये दो रास्ते दिखते हैं। एक तो है—भारत में जो शिक्षण (education), दिया जाना हम चाहते हैं, वैसा मानवीय-जीवनमूल्यों की दीक्षा देने वाला, मनुष्य को सत्यार्थी, स्नेहमय, जीवनार्थी बनाने वाला, स्वावलम्बी-आत्मनिर्भर बनाने वाला शिक्षण देने वाली संस्थायें आज हैं नहीं। अतः शिक्षण को माध्यम बनाकर एक सम्पूर्ण समग्रवृत्ति लाने वाली क्रान्ति (wholistic revolution) का आवाहक वर्ग तैयार करना पड़ेगा जो दो-पाँच साल में नहीं हो सकता; लेकिन यह एक रास्ता है।

Education is the only medium for bringing total revolution.

यह लम्बा रास्ता ज़रूर है लेकिन उसी में मानव-निर्माण, चारित्र्य-निर्माण का काम हो सकता है। इसके लिये प्रत्येक प्रदेश में कोई ऐसा

समूह (group) हो जो शिक्षा का काम हाथ में ले ले। छोटे-छोटे बच्चों से लेकर उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के स्तर तक सत्यकाम, जीवनार्थी, मानवीय मूल्यों का उपासक नागरिक खड़ा हो।

जो राजनीतिक विकृतियाँ और शोषणपद्धतियाँ हैं, सहकारी संस्थायें और स्थानिक स्वराज्य-संस्थायें हैं, इनमें से सभी राजनैतिक पक्षों की जड़ें खोद डालो। उनमें होने वाले चुनाव पक्षाधारित न हों, यह समझाओ लोगों को। गाँव-गाँव में से मतदाताओं के अपने विश्वस्त और समझदार प्रतिनिधि उम्मीदवार बनकर खड़े हों, वे ग्राम-पंचायतें सम्हालें। वे ही आगे बढ़कर सहकारी एवं सरकार-सम्बन्धी संस्थायें सम्हालें। राजनैतिक पक्षों की जड़ें यदि स्थानिक स्वराज्य-संस्थाओं में से उखड़ जाती हैं, और नागरिकों के हाथों में स्वशासन एवं स्वशिक्षण आता है, अपने आर्थिक जीवन को गढ़ने वाले भी ग्रामवासी स्वयं बनते हैं तो आप देखेंगे कि जो भ्रष्टाचार आज चल रहा है वह बहुत बड़ी हद तक घट जायेगा। युवकों से मुझे यही कहना है कि जाइये गाँवों में, शहरों में, इसी का प्रयत्न कीजिये। आप में से एक वर्ग खड़ा हो जो इन स्थानिक स्वराज्य-संस्थाओं को सम्हालेगा। आज की सारी विकृतियों की दवा एक है :—

To create people's participation in the administration of the country; their active participation in the electoral system, in controlling the representatives that they elect, and keeping vigilance on them.

यह जिम्मेवारी हम सबकी है। आज लोकतन्त्र में 'लोक' कहीं भी नहीं है। कोरा तन्त्र ही तन्त्र है। इनकी भागीदारी नहीं, involvement नहीं। राजनैतिक पक्षों की हालत तो आप देख ही रहे हैं। यदि उस क्षेत्र में काम करना हो तो राष्ट्र की नागरिकता का भाव जगाना, 'लोकतन्त्र' चला सकनेवाला 'लोक'-निर्माण करना यह काम है।

सभी पहलुओं को आप एक-साथ सम्हाल लेंगे—यह मुश्किल है। अतः किसी भी एक पहलू को पकड़ कर काम शुरू करना होगा। यदि सांस्कृतिक क्षेत्र में काम करना हो तो भी यह पहलू है। आप देख लीजिये कि इस देश में जो-जो लोग रहते आये हैं—भिन्न-धर्मी, भिन्न

भाषा वाले, भिन्न संस्कृतियों वाले, भिन्न नृवंशों के, ये सभी भारत में एक साथ बने रहें यह आप वस्तुतः चाहते हैं ? यदि चाहते हों कि भारत की बहुरंगी समृद्ध संस्कृति बनी रहे, या विविधताओं से समृद्ध भारत एक अखण्ड राष्ट्र बना रहे, तो लोगों को समझाना होगा कि हम हजारों सालों से एक-साथ जीते आये हैं, और हमें वैसे ही मिलजुल कर जीना है—तो ये जो आपको-हमको लड़ाने के लिये लोग आते हैं शासन के नाम से, राजनीति के नाम से, इनकी भरमानेवाली बातें मत सुनियेगा, नहीं मानियेगा। और आप से सच करती हूँ कि International mafia is controlling the economy of India to a very great extent. (आन्तर्राष्ट्रिय सामाजिक गिरोह बहुत बड़ी हद तक इस देश के अर्थतन्त्र को अपने शिकंजे में लिये हुए हैं।) चार लाख करोड़ से अधिक काला धन इस समय इस देश में घूम रहा है। सरकारी अर्थतन्त्र के समानान्तर भीतर ही भीतर इन गिरोहों का अर्थतन्त्र चलता है; अब तो बहुत कुछ खुले आम होता है। हमारी सरकार का पूरा बजट जितना नहीं है, उतना काला धन देश में घूम रहा है। यह कैसे बर्दाश्त हो !

आप ने सवाल इतने महत्त्व के पूछे हैं कि दो-चार वाक्यों में इनका ज़वाब नहीं दिया जा सकता। 'इण्टरनेशनल माफ़िया' उद्योगपति व व्यापारी वर्ग (industrial class) को भी अपनी पकड़ में जकड़ लेने (capture) करने का प्रयास कर रहा है। राजनीतिक लोग उनके हाथ में हैं, उनकी अलग lobbies हैं। देश के उद्योगपतियों के गुट तो हैं हीं। संसद हो, विधान सभा हो, नगर महापालिकायें हों—सभी में एक नई तरह की गुलामी पनप रही है।

अतः यदि सांस्कृतिक क्षेत्र में काम करना है तो कहना होगा हिन्दू-मुसलमानों-सिखों से—सभी धर्म-सम्प्रदायों एवं विविध नृवंशों के लागों से कि भाई हमेशा से हम साथ रहते, साथ जीते आये हैं, वैसे ही रहेंगे। जहाँ जिनके साथ अन्याय हुआ है, उन्हें देखें, अन्याय मिटायें। सबको साथ रखने के लिए सबसे पहले जरूरी है—सबके लिए समान एक ही आचारसंहिता बनाना ! और न्यायतन्त्र का सर्वोपरि होना One civil code for all the population, and supremacy of Judiciary !

किसी की उपासना-पद्धति या धर्म को कोई रोक-टोक नहीं सकता। अपने घर में, मन्दिर-मस्जिद-गुरुद्वारे-चर्च में आप अपने-अपने ढंग से प्रार्थना कीजिए; अपने विशिष्ट वाङ्मयों का अध्ययन-अध्यापन-परिचर्चा कीजिए; घरों में अपनी रुचि का खान-पान-व्यवहार रखिये। लेकिन बाहर सामाजिक-नागरिक क्षेत्र में जो भी सवाल खड़े होते हैं उनमें सर्वोपरि अधिकार न्यायतन्त्र का रहे; वहाँ संगठित-साम्प्रदायिक धर्म आड़े नहीं आने चाहियें। प्रत्येक समुदाय या जमात के जो श्रद्धास्थान बने हों—'देवस्थान' कहने में झिझक होती है, तथाकथित निरीश्वरवादी समुदायों की दृष्टि से, भले ही उन सबने भी 'ईश्वर'—स्थानीय कुछ न कुछ प्रतीकों की व्यवस्था कर ही ली हुई है, जैसे जैनों में तीर्थंकर, बौद्धों में स्वयं बुद्ध, सिखों में 'गुरु'-पदस्थ दसों महात्मा एवं आदिग्रन्थ, मुसलमानों में 'कुरानेशरीफ़' एवं दरगाहें व काबा आदि; उन-उन श्रद्धास्पद वाङ्मयों में कहे हुए आशय को चाहे कहीं दूर छोड़ दिया गया हो!—उन देवस्थानों की जो स्थिति १९४७ में थी, उसी स्थिति में उनकी सुरक्षा बनाये रखी जाय; अतिप्राचीन या प्रागैतिहासिक स्थितियों का आग्रह न पकड़ा जाय।

आप यदि चाहते हैं कि इस देश में जितने लोग आये हैं वे नागरिक के नाते रह सकें, तो ऐसे कुछ कानून-संशोधन करने पड़ेंगे; इस तरह का सांस्कृतिक अभियान चलाने वाले ही इस तरह कह सकते हैं। राजनीतिक पक्षों में यह साहस नहीं है, न आ सकता है।

एक समान आचारसंहिता हो, कानून सबके लिए एक समान हो एवं सर्वोपरि हो, तथा सख्यमूलक सहयोग-परायण सहजीवन का मन्त्र लेकर युवक गाँव-गाँव में घूमें।

राष्ट्र के नागरिकों से —

भारत एक विशाल देश है, एक लघु महाद्वीप है और भारतीय इतिहास साक्षी है कि हमारे उदार दृष्टिकोण और धार्मिक सहनशीलता के फलस्वरूप हर भारतवासी को अपने धार्मिक विचारों का अनुसरण करने की पूरी आजादी रही है और वह हमने विदेशों से आकर बसने वालों को भी प्रदान की है। नतीजा यह है कि हमारे देश के सब धर्मों और मत मतान्तरों पर शिष्ट, उदार, दयालु और पक्षपातहीन भारतीय संस्कृति की

छाप है। अनेकता में एकता है। हिन्द के सारे धर्म मिलाकर "हिन्दु धर्म" कहलाता है।

भारतीय संस्कृति के फलस्वरूप "जन-तन्त्र" ने हमारे हिन्दुस्तान में एकदम जड़ें पकड़ ली हैं। हमारे पड़ोस के देशों में जन-तन्त्र प्रणाली जड़ें नहीं पकड़ सकी क्यों कि वहाँ भारतीय संस्कृति दबा दी गई है। भारतीय संस्कृति मूलत: हिन्दु संस्कृति है और उस पर हमको नाज़ है। हम भारतीय अपने एक दो महान् अवगुणों को विशेष प्रयत्न करके दूर कर देंगे तो भारत का "विश्व-शक्ति" बन जाना अटल तथ्य है।

समय-समय पर भारतीय महान् आत्माओं ने प्रयत्न किया है कि अलग-अलग धर्मों या पंथों का बाहरी चोला जैसे का तैसा बरकरार रखते हुए, जीवन में से संकीर्णता दूर करके, समाज और राष्ट्र को उदार और व्यावहारिक विचारों की तरफ मोड़ा जाय, जो कि इतिहास से सीखे हुए पाठों और विज्ञान के उसूलों पर आधारित हों। भारतीय संस्कृति ने "सर्वधर्म-समन्वय" को जन्म दिया जिसे कि सच्चा "मानव-धर्म" कहा जा सकता हैं। हम भारतीयों के सामने हमारे धर्म-गुरुओं ने जो विश्व-पताका लाकर खड़ी कर दी है, उसे लेकर समाज का पढ़ा-लिखा और क्रान्तिकारी वर्ग आगे बढ़ेगा तो विज्ञान और इतिहास में शिक्षित वानप्रस्थियों और संन्यासियों के द्वारा दुनिया के सारे देशों में शान्ति का विस्तार होगा। परन्तु फिलहाल तो अपना देश एक भूल-सुधारने में लगा हुआ है। उसमें हम सब को यथाशक्ति यथासम्भव सहयोग देना चाहिए।

विदेशी हमलावर लड़ाई जीत जाने पर जीते हुए देश की आत्मा और प्रेरणा-स्रोत को कुचलकर वहां के देश-वासियों का मनोबल मिट्टी में मिलाने का दुस्साहस करता है। बाबर ने ऐसा ही किया जब उसने मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम की जन्म-स्थली के राम-मन्दिर को अयोध्या में तुड़वाकर उसकी जगह मसजिद बनवा दी। [बाबर विदेशी था। उसने अपने मरणोपरान्त भारत के बाहर (फ़रग़ना में) दफनाए जाने की हिदायत की थी। इसीलिए बाबर की लाश को भारत के बाहर ही दफ़नाया गया।] परन्तु 'राष्ट्र-चेतना' 'राष्ट्र-गौरव' को लगी ठेस को हमेशा के लिए बरदाश्त नहीं करती। इसीलिए ऐसे जुल्मों का निदान कभी न कभी होकर ही रहता है।

भारत की महान् संस्कृति बाहरी तौर पर "विनय" और "कृपा" जैसी मुलायमियत रखते हुए भी अपने अन्दर सदैव एक "विराट्-लोहशक्ति" संजोए हुए है। कितनी बार ही उसके प्रेरणा-स्रोतों को दुष्टों ने ध्वस्त किया, परन्तु कालान्तर में नव-जाग्रत राष्ट्र-शक्ति ने उन्हें फिर से स्थापित कर दिया, जैसा कि सोमनाथ में हुआ।

भारत एक दिन विश्व-शक्ति बन कर ही रहेगा, उसे कोई रोक नहीं सकता और हम में से वे सब लोग स्तुति के पात्र हैं जो उस दिन को नज़दीक लाने के लिए काम कर रहे हैं।

—व० प० वानप्रस्थी

कमान्डर वेद प्रकाश, इण्डियन नेवी, रिटायर्ड—१९७७

'स्वदेशी'

"बहुत विचार के बाद मैं 'स्वदेशी' की एक परिभाषा पर पहुँचा हूँ जिससे शायद मेरा अभिप्राय भली-भाँति प्रकट हो सकेगा। स्वदेशी हमारे भीतर का वह भाव है जो हमें सुदूर का सहारा छोड़कर अपने निकट के परिवेश के ही उपयोग और सेवन में सीमित रहना सिखाता है। इसलिये धर्म के प्रसङ्ग में भी, इस परिभाषा के पालन के लिये मुझे अपने पूर्वजों के धर्म में सीमित रहना चाहिये। यह मेरे निकट के धार्मिक परिवेश का उपयोग है। यदि वह सदोष दिखाई दे, तो मुझे उसके दोषों को दूर करते हुए उसकी सेवा करनी चाहिये। राजनीति के क्षेत्र में मुझे अपनी देशी संस्थाओं के प्रमाणित दोषों को दूर करके उनका उपयोग करना चाहिये। अर्थनीति के क्षेत्र में मुझे केवल उन्हीं वस्तुओं का उपयोग करना चाहिये जिनका उत्पादन मेरे निकट के पड़ोसियों ने किया है। और उन उद्योगों को अधिक कुशल एवं पूर्ण बनाकर उनकी सेवा करनी चाहिये।"

—मो० क० गांधी

[१९१६, मिशनरी कॉन्फरेन्स, मद्रास, में हुए भाषण में से; मूल अंग्रेजी से अनूदित]

धन के उपयोग का तरीका

—"श्री अरविन्द"—

सारा धन भगवान् का है, और वह जिन लोगों के हाथ में है, वे उसके 'ट्रस्टी' हैं, रक्षक हैं, मालिक नहीं। आज यह उनके पास है, कल कहीं और चला जा सकता है। जब तक यह इनके पास है, तब तक वे इस ट्रस्ट का पालन कैसे करते हैं, किस भावना से करते हैं, किस बुद्धि से उपयोग करते हैं, और किस काम में करते हैं, इस पर सब कुछ निर्भर है।

अपने लिए जब तुम धन का उपयोग करो, तब जो कुछ तुम्हारे पास है, जो कुछ तुम्हें मिलता है, या जो कुछ तुम ले आते हो, उसे "माँ" का समझो। स्वयं कुछ भी मत चाहो। पर वे जो कुछ दें, उसे स्वीकार करो और उसी काम में उसे लगाओ जिसके लिए वह तुम्हें दिया गया हो। नितान्त निःस्वार्थ, सर्वथा न्यायनिष्ठ, ठीक-ठीक हिसाब रखने वाले, और तफ़सील की एक-एक बात का ध्यान रखने वाले उत्तम ट्रस्टी बनो। सदा यह ध्यान रखो कि तुम जिस धन का उपयोग कर रहे हो वह उनका है, तुम्हारा नहीं। फिर उनके लिए जो कुछ तुम्हें मिले, उसे श्रद्धा के साथ उनके सामने रखो; अपने या और किसी के काम में उसे मत लगाओ।

कोई मनुष्य धनी है, केवल इसीलिये उसके सामने सिर नीचा मत करो; उसके आडम्बर, शक्ति या प्रभाव के वशीभूत मत हो। "माँ" के लिये जब तुम किसी से कुछ माँगो तो तुम्हें प्रतीत होना चाहिए कि "माँ" ही तुम्हारे द्वारा अपनी वस्तु का किञ्चित् अंश माँग रही है, और जिस व्यक्ति से इस तरह माँगा जायेगा, वह इसका क्या जवाब देता है—उसी से उसकी परीक्षा होगी।

यदि धन के दोष से तुम मुक्त हो, पर साथ ही बाहरी संन्यासी की तरह तुम उसे भोगते नहीं हो, तो भागवत कर्म के लिए 'धनं जय' करने की बड़ी क्षमता तुम्हें प्राप्त होगी। मन का समत्व, किसी स्पृहा का न होना, और जो कुछ तुम्हारे पास है, जो कुछ तुम्हें मिलता है, और तुम्हारी जितनी भी उपार्जन-शक्ति है, उसका भगवती शक्ति के चरणों में तथा उन्हीं के कार्य में सर्वथा समर्पण किया जाना—ये ही लक्षण हैं धन-दोष से मुक्त होने के। धन के सम्बन्ध में या उसके व्यवहार में किसी प्रकार की मन की चञ्चलता, कोई स्पृहा, कोई कुण्ठा, किसी न किसी दोष या बन्धन का ही निश्चित लक्षण है।

इस विषय में उत्तम साधक वही है जो दरिद्रता में रहना आवश्यक हो जाने पर वैसा रह सके, तब उसे किसी अभाव की कोई वेदना न हो, या उसके अन्दर भागवत चैतन्य के अबाध क्रीडन में कोई बाधा न पड़े; और वैसे ही यदि उसे भोगविलास की सामग्री के बीच में रहना पड़े तो वह वैसा भी रह सके। तब कभी एक क्षण के लिए भी अपने उस धन, वैभव या भोग विलास के साधनों की इच्छा या आसक्ति में न जा गिरे, असंयम का दास न हो, अथवा धनवान् होने पर जैसी आदतें पड़ जाती हैं उनसे बेबस न हो जाय। भागवती इच्छा और भागवत-आनन्द ही उसका सर्वस्व है।

विज्ञानकृत सृष्टि में धन-बल-रूप भागवती शक्ति का विनियोग उन्हीं के सृष्टि-बल की प्रेरणा से निर्धारित प्रकार से एक नवीन दिव्य प्राणिक एवं भौतिक जीवन के सत्य, सुन्दर, सुसज्जित संघटन एवं सुव्यवस्था से करना होगा। उसके लिये पहले यह धन-शक्ति संचित करनी होगी। इस धन-विजय-सम्पादन में वे ही सबसे अधिक बलवान् होंगे जो अपनी प्रकृति के इस हिस्से में सुदृढ़, उदार और अहङ्कार-निर्मुक्त हैं; जो कोई भी प्रत्याशा नहीं करते (कि "इस कर्म के बदले मुझे यह सुख मिले") जो अपने लिए कुछ बचा कर नहीं रखते, या किसी संकोच में नहीं पड़ते; जो परम शक्ति के विशुद्ध सक्षम निपुण यन्त्र हैं।

—"The Mother" में से अनूदित—

दानी के विचार

महाराज भोज एक आदर्श दानी थे। दान करते-करते उनका खजाना खाली हो चला। तब मन्त्रिगण उन्हें दान बन्द करने की सलाह तो न दे सके, किन्तु उन्होंने महाराज की बैठक के सामने एक श्लोक का चरण लिख दिया :— "आपदर्थे धनं रक्षेत्"

(आपत्ति-काल के लिए धन बचाये रखना चाहिए)

महाराज भोज इसे पढ़कर मन्त्रियों का आशय समझ गये। उन्होंने उसी के आगे लिख दिया :—"श्रीमतां कुत आपदः"

(श्रीसम्पन्नों को आपदायें कैसी ?)

तब मन्त्री ने फिर से लिखा :—"दैवात् क्वचित् समाप्नोति"

(दुर्भाग्य से कभी आपद् आ जाय तो ?)

इस पर महाराज ने उत्तर लिखा :—"सञ्चितोऽपि विनश्यति"

(तब सञ्चित धन भी विनष्ट हो जाता है।)

फिर कुछ लिखने का साहस मन्त्री को नहीं हुआ।

श्रीज्ञानेश्वरी

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीता-भावार्थदीपिका

—बारहवाँ अध्याय : भक्तियोग—

[विमलवाणी में प्रतिबिम्बित]
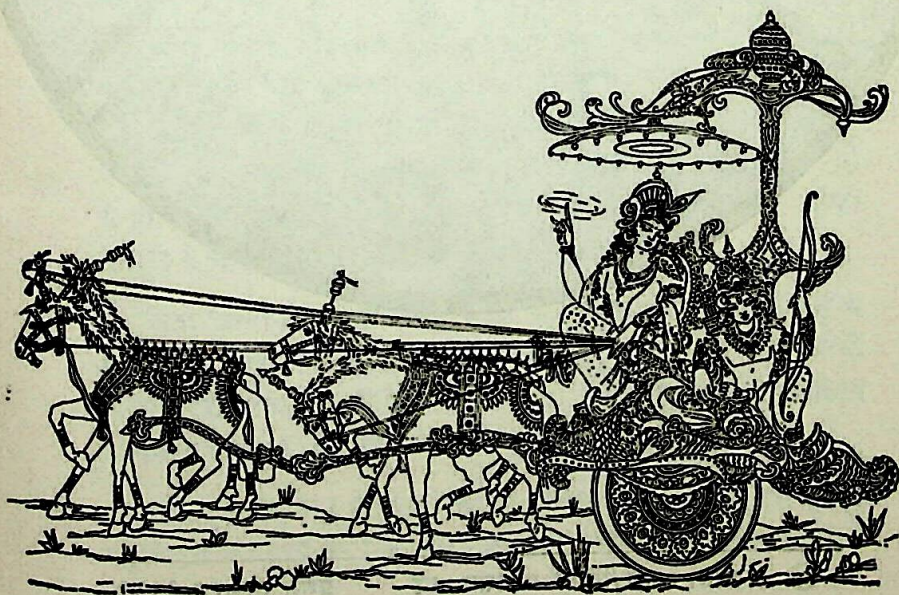
@ विमला ठकार/विमल प्रकाशन ट्रस्ट प्रथम संस्करण १९९१
शिवकुटी, आबू पर्वत 307501 (क्रमशः प्रकाशित होगा)

प्रास्ताविक

आज से ८ सौ वर्ष पहले की बात है, अपने ज्येष्ठ भ्राता योगी श्री निवृत्तिनाथ की आज्ञा से रसिकों के सम्राट् अभिजात कवि, भागवत-वरिष्ठ सन्त, गम्भीर शास्त्राभ्यास एवं सघन साधना किये हुए सिद्ध योगी ज्ञानेश्वर ने श्रीमद्भगवद्गीता का भाष्य लिखा। (आप जानते ही होंगे कि) श्री निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ता—ये चारों जब बच्चे ही थे तब उनके माता-पिता को जल-समाधि लेनी पड़ी थी, क्योंकि श्रीगुरु-आज्ञा से संन्यासाश्रम में से गृहस्थाश्रम में लौटने का शास्त्रापराध उनके हाथों हुआ था। श्री ज्ञानदेव ने ८ वर्ष की आयु में बड़े भाई निवृत्तिनाथ (आयु ११ वर्ष) से दीक्षा पाई। चार वर्षों में गुरु के पास जो साधना करनी थी, शास्त्राध्ययन करना था—वह कर चुके थे, इसलिये १२ वर्ष की वयस् में श्रीगुरु के आदेश पर श्रीमद्भगवद्गीता की 'भावार्थदीपिका' नाम से ग्रन्थ का प्रणयन प्रारम्भ हो गया। निवृत्तिनाथ और ज्ञानदेव का जन्म नाथ-परम्परा में हुआ था, निवृत्तिनाथ की गुरु-परम्परा →गहिनीनाथ→ गैबीनाथ→गोरक्षनाथ→मत्स्येन्द्रनाथ→आदिनाथ तक जाती है। नाथ-परम्पराओं में शिव-शक्ति-सामरस्य की उपासना, हठयोग की साधना, गोरक्षसंहिता के अनुसार तन्त्रमार्ग की साधना की जाती है। ऐसे नाथ-परम्परा में जन्मे हुए ज्ञानदेव आत्मज्ञान-आत्म-बोध के अधिकारी तो थे ही, लेकिन उस के साथ-साथ उन के जीवन का प्रत्येक क्षण भक्ति-माधुरी से मण्डित था।

अतः 'ज्ञानेश्वरी' (भावार्थदीपिका) अद्वैतनिष्ठ भक्ति का एक अनुपम ग्रन्थ है। भक्ति का अर्थ अज्ञानजनित भोलाभाव नहीं है। अन्धी विश्वासपरायणता के लिये भक्ति में कोई स्थान नहीं; ज्ञानाधिष्ठित भक्तियोग महाराष्ट्र के वैष्णव धर्म की एक विशेषता है।

श्रीमद्भगवद्गीता को देखने की दो दृष्टियाँ हैं, एक तो इतनी ही कि महाभारत के मध्य में एक अतीव महत्त्वपूर्ण घड़ी में श्रीकृष्ण-अर्जुन के

एक विशिष्ट संवाद का यह निरूपण है। यह उसका प्रासङ्गिक महत्त्व है, इस दृष्टि से गीता को देखने वाले अनेक लोग भारतवर्ष में हैं। लेकिन हम जैसे प्रभु के लिये पागल लोगों के चित्त में एक प्रश्न उठता है। अर्जुन ने पूछा था (पहले अध्याय में) कि "मैं क्या करूँ? युद्ध करूँ या न करूँ? लड़ना भाता नहीं है।" इसके लिये अनेक तर्क अर्जुन ने दिये, विषाद से अवसन्न होकर शस्त्र डाल कर बैठ गये। ऐसे मोहाविष्ट अपने मित्र और भाई को वासुदेव यह तो कह सकते थे न! कि अब यह तेरा विषाद ग़लत है, चल उठ खड़ा हो जा, सावधानी से युद्ध कर! वही तेरा स्वधर्म है!" बस इतने में ही बात पूरी हो सकती थी। यदि केवल प्रासंगिक संवाद हो इसको माना जाय तो "श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे"—इतना उस 'श्रीकृष्णार्जुन-संवाद' का विशेषण लिखने की ज़रूरत नहीं थी। इसलिये दूसरी दृष्टि से ग्रन्थ को देखा जाय, जैसा कि बाल-सन्त योगी श्री ज्ञानदेव ने देखा है, ऐसा इस भावार्थदीपिका के अध्ययन से प्रतीत होता है।

वह दृष्टि यह है—अर्जुन ने जो प्रश्न पूछा था कि "लड़ूँ या न लड़ूँ?" यह केवल व्यक्ति का प्रश्न नहीं, नीतिविषयक प्रश्न था; तत्त्वज्ञान का प्रश्न था; इसलिये वासुदेव उसे ब्रह्मज्ञान तक ले गये—"आत्मा क्या है? अनात्मा क्या है? क्षेत्र क्या है? क्षेत्रज्ञ कौन है? कर्म क्या, अकर्म क्या? योग क्या, वेदान्त क्या? ज्ञानी जीवन कैसे जिये?...." जीवन जीने का साङ्गोपाङ्ग शास्त्र वासुदेव के मुख से प्रकट हुआ। यह 'ईश-निःश्वसित वेद' नहीं है; बल्कि योगेश्वर वासुदेव ने स्वयं अपने श्रीमुख से जीवन जीने का शास्त्र कहा है इस रीति से कि सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी समझ सके। लेकिन समय बीतने पर, बहुजनसमाज के लिये संस्कृतवाणी दुरूह होने से वह सात सौ श्लोकों वाली गीता भी दुर्बोध हो गयी। महाराष्ट्र में श्री ज्ञानेश्वर पहले व्यक्ति हुए जिन्होंने शास्त्र-ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखा। गीता की अनेक टीकायें-व्याख्यायें संस्कृत में उपलब्ध थीं, किन्तु ज्ञानेश्वर महाराज का जी अकुलाता था बहुजन-समाज के लिये, जो उस समय संस्कृतभाषा सीखने-समझने के लिये अधिकारी भी नहीं माने जाते थे। अतः ज्ञानेश्वर बोले—"संस्कृत देव-निर्मित है तो प्राकृत क्या चोरों ने बनाई है?" यह प्राकृत भी तो 'भाषा' है, 'वाणी' है अतः सारस्वत है—शारदा-तनया है। अतः मैं

प्राकृत में ही गीता-भावार्थ कहूँगा !" प्रतिज्ञा की है—

"अमृतातेहीं पैजासीं जिंकें। ऐसीं अक्षरें रसिकें। मेळवीन।" (ज्ञा० ६।१४)

बाजी लगा कर अमृत को भी जीत सकें ऐसे रसिक अक्षरों, शब्दों का प्रयोग करूँगा। ऐसे मधुर शब्द मुझे प्राकृत भाषा में भी मिल आयेंगे—ऐसा विश्वास है।" ..

सैकड़ों वर्ष महाराष्ट्र के मन्दिरों में यह ग्रन्थ पढ़ा नहीं जाता था क्योंकि यह प्राकृत में था। एक तो संन्यासी की सन्तान, दूसरे प्राकृत भाषा में अध्यात्म-विषय लिखने का अपराध। इसलिये ज्ञानेश्वरी शतकों तक महाराष्ट्र की जनता से दूर रही। लेकिन अब बड़े सम्मान से पढ़ी जाती है। अध्यात्मशास्त्र होने के साथ-साथ अनुपम अभिजात ललित काव्य है ज्ञानेश्वरी! "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"—यह काव्य की परिभाषा है। रस आयेगा कहाँ से? "रसानां स वै रसः" परमात्मा ही रस-स्रोत हैं, रसमयी उनकी काया है। सभी रसों (साहित्य-संगीत-कला आदि जीवन के समस्त क्षेत्रों) के मूल-उत्स तो परमात्मा ही हैं। अतः ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा—

"वाचेंसि बरवे कवित्व। कवित्वीं बरवे रसिकत्व।
रसिकत्वीं परतत्त्व। स्पर्श, जेसा ॥" (ज्ञा० १८-३४७)

वाणी की श्रेष्ठता है कवित्व, कवित्व की श्रेष्ठता है रसिकता। रसिकता अर्थात् रस को पहचानने की क्षमता, शक्ति। उपभोग की इच्छा जहाँ जागृत होती है, वहाँ रसिकता कुण्ठित हो जाती है। रस-दिग्ध लोग रस को पहचानते हैं, रस परमात्मा की विभूति है, अतः शास्त्रविहित रससेवन करते हैं कृतज्ञभाव से, रस को उपभोग का विषय नहीं बनाते। चाहे वह रस अन्न में हो, वस्त्रादि में हो, चाहे सृष्टि के अन्य पदार्थों में हो, या इन्द्रियगतियों में हो! रसिकता श्रेष्ठ है, यदि उसमें परतत्त्व का स्पर्श हो—परमात्मा की सत्ता के संस्पर्श में भीगा हुआ शब्द हो—वही वस्तुतः रसात्मक वाक्य होने के नाते काव्य है।

ज्ञानेश्वरी की रचना हुई 'ओवी' छन्द में। साढ़े तीन चरण का 'ओवी' छन्द ज्ञानेश्वर महाराज का अपना है। इन से पहले मुकुन्द राय, अमृत राय ने मराठी में अत्यन्त सुन्दर रचनायें की थीं, किन्तु ओवी छन्द ज्ञानेश्वर, 'ज्ञानराय' की शाश्वत देन है साहित्य के लिये।

अब यहाँ जो ज्ञानेश्वरी-ओवियों का अर्थ किया जायेगा उसे आप की "विमल-बहन" के जो विचार बीसों वर्षों से सामने आये हैं, उनके साथ जोड़ियेगा नहीं। यहाँ जो कहा जायेगा वह 'विमल-बहन' को अभिप्रेत है ऐसा कृपा करके नहीं मानियेगा। सात-आठ-सौ वर्ष पहले महाराष्ट्र में सन्त-कवि जो वाणी-सरिता बही उसी का थोड़ा रसास्वादन हम यहाँ करेंगे। मैं कवि नहीं, साहित्यिक नहीं और यह ज्ञानेश्वरी तो उपमा-रूपक-उत्प्रेक्षादि अलंकारों की अनेकों लड़ियों से सजी-धजी है। एक-एक ओवी का पूरा अर्थ कहने में एक दिन तो क्या, कभी पूरा सप्ताह भी कम पड़ सकता है। ऐसी अर्थ-समृद्ध यह काव्यरचना है। अतः हम भावार्थदीपिका का भी भावार्थ ही देखेंगे; इससे अधिक अपना अधिकार मैंने माना नहीं है।

बारहवाँ अध्याय 'भक्तियोग' कहलाता है। अध्यात्म एक शास्त्र है, विज्ञान है, उसके शब्दों के साथ खिलवाड़ नहीं होना चाहिये। 'भक्ति' और 'योग' दोनों शब्द महत्त्व के हैं।

"पलभर भी जो नहीं विभक्त, वही कहलाता भक्त"। क्षण भर के लिये भी परम सत्ता के साथ का अनुसन्धान जिसका छूटता नहीं, विच्छेद नहीं होता—उसको भक्त कहा है। यह भक्ति ही योग बने। भारतीय संस्कृति का एक ही आदेश-उपदेश है—"योगी भव" योगावस्था में ही मनुष्य-जन्म की कृतार्थता, धन्यता है। उस योगावस्था का अर्थ क्या है आपकी—मेरी भाषा में ? व्यवहार में अपने जो सम्बन्ध आते हैं—पदार्थों के साथ, प्राणियों के साथ, सृष्टि के साथ—इन सभी सम्बन्धों में चित्त की समता और इन्द्रियों का सन्तुलन कायम रहे, अक्षुण्ण रहे, निरन्तर रहे। "समत्वं योग उच्यते।" हम ने यह मान लिया है कि जहाँ सम्बन्ध आयेंगे—वहाँ क्षोभ होगा ही। वहाँ चित्त में असन्तुलन आयेगा ही; और शरीर में भी धातुवैषम्य, गुणवैषम्य पैदा होगा ही। हम ने सम्बन्धों को संघर्ष का क्षेत्र माना है, और भारतीय संस्कृति इन्हें संवाद का क्षेत्र मानती है। A field for display of inner harmony. भीतर के संवाद को व्यक्त करने का क्षेत्र है सम्बन्ध।

'भक्ति' और 'योग' शब्दों को जोड़ देने पर अर्थ होगा—प्रभु सत्ता, जीवन की चरम सत्ता या जिस भी नाम या प्रकार से आप 'उसे' स्मरण करते हों—उस चरम-परम सत्य का प्रतिपल अनुसन्धान रखते हुए

जीवन में सामने आये सभी सम्बन्धों में चित्त की समता और इन्द्रियों का सन्तुलन स्थिर रखने का शास्त्र। सभी शास्त्रों का एक सार यह है कि पशुयोनियों के अनेकों संस्कार सहज ही साथ लिये जन्म लेने वाले मनुष्य के लिये यह साध्य है कि जैसे पंचमहाभूतों में अन्तर्निहित एक संगति और संवाद है, सहयोग है, वैसे मनुष्य अपने दैनिक सम्बन्धों में व्यक्त करे। संवाद-सहयोग के आधार पर समाज रचना करे। अपने सभी सम्बन्ध जिनको आप आज राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक इत्यादि समझते हैं उन सभी सम्बन्धों में सख्य का, सहयोग का, संवाद का अमृत प्रकट करने के लिये मनुष्य का जन्म है। यह भक्तियोग इस अध्याय में कहा गया है।

श्री ज्ञानेश्वरी

॥ ॐ ॥

महाराज प्रारम्भ करते हैं गुरु-वन्दना से। महाराष्ट्र में आठ सौ वर्ष पहले शास्त्रोक्त गुरु-परम्परा प्रबल थी। आज वाक्-प्रचार में जिन्हें गुरु-शिष्य कहते हैं वे हमें अभिप्रेत नहीं। गुरु वह व्यक्ति है जिसके चित्त में से अहंग्रन्थि का भेदन हो गया है, अहंकार निर्मूल हो गया है। वहाँ चेतना के केन्द्र में कोई बिन्दु नहीं है, जिसमें से अस्मत्-युष्मत्—प्रत्यय का निर्माण हो। ऐसी चेतना की अवस्था में जो जी रहा है उस व्यक्ति को 'गुरु' संज्ञा दी गयी। वहाँ अज्ञान-अहङ्कार लेशमात्र भी नहीं है। केवल प्रवचन करते समय अहं या अज्ञान न रहता हो ऐसा नहीं, चौबीसों घण्टे, लोकान्त में, एकान्त में, सम्पदा में, विपदा में, स्वप्न में, जागृति में, उठते-बैठते, प्रत्येक व्यवहार में, अपमान में, सम्मान में, किसी क्षण में जिसकी चेतना अहंवृत्ति के स्पर्श से दूषित नहीं होती है उसको कहा गुरु।

ऐसे गुरुपद में जीने वाले व्यक्ति के सान्निध्य में, सहनिवास में, संस्पर्श में कुछ संक्रान्त हो जाता है जिज्ञासु के हृदय में। गुरु संकल्प-पूर्वक कुछ देता नहीं है। लेकिन शिष्य की यदि अभिमुखता हो, विनम्रता हो—"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया !"—ऐसी भूमिका हो तो दोनों के सान्निध्य में, कुछ संक्रान्त हो जाता है। उसे लोग 'आत्मबोध', 'अनुग्रह', 'कृपा' कहते हैं। अनुग्रह किया नहीं जाता जी ! वह दिया भी नहीं जाता; अनुग्रह हो जाता है।

आप नदी में उतरते हैं। वह सरिता आपको भिगोती नहीं है, उतना कर्तृत्वभाव सरिता के जल में नहीं है। लेकिन उस पानी का संस्पर्श होने पर आपका भींग जाना एक आनुषङ्गिक परिणाम है।

ज्ञानेश्वर महाराज उन श्रीगुरु की वन्दना में अध्याय की पहली १५-२० ओवियाँ कह रहे हैं। लेकिन 'रसिक' 'कवि' ठहरे! अतः गुरु के पाञ्चभौतिक देह की महिमा नहीं गाई। तत्त्व ही कहा गया।

जय जय शुद्धे! उदारे प्रसिद्धे!
अनवरत आनन्दे! वर्षतिये! ॥१॥

किसका जय हो? जो शुद्ध है; मल के स्पर्श से जो मलिन नहीं होता है। आपकी ख्याति है कि आप नित्य शुद्ध हैं और उदार हैं। अनवरत अखण्ड आनन्द बरसाने की उदारता जिसमें है—उस गुरु-दृष्टि को सम्बोधित कर रहे हैं। (वही नित्य शुद्ध हो सकती है—पाञ्चभौतिक काया नहीं। काया में तो नैसर्गिक नियम लागू होंगे)। श्रीगुरु-कृपा दृष्टि को ही वन्दन है।

विषयव्याळें मिठी। दिधलिया नुठी ताठी।
ये तुझिये गुरुकृपादृष्टी। निर्विष होय ॥२॥

विषयरूपी सर्पों के आलिङ्गन में जिनकी बुद्धि पड़ी हुई है, जिनके इन्द्रिय-मन-प्राण-चित्त को विषय-व्यालों ने डस लिया है, उस विष से जिनके चित्त व बुद्धि मूर्च्छित हैं, ऐसे प्राणियों पर आपकी दृष्टि पड़ती है तो उस दृष्टि में शक्ति है कि उन्हें निर्विषय बना दे। विषयों का दंश ज्ञान से नहीं जाता। षट्शास्त्रों के अध्ययन से नहीं जाता। ६८ तीर्थों की यात्रा कर लीजिए, चित्त से विषय नहीं छूटते! अज्ञान का निराकरण ज्ञान से होता है। केवल गुरुकृपादृष्टि में वह शक्ति है चित्त को निर्विषय बना देने की! नाथसम्प्रदाय में मन्त्र-दीक्षा का महत्त्व नहीं, वहाँ महत्त्व है दृष्टिदीक्षा का। इसीलिए यहाँ महिमा दृष्टि की गाई जा रही है, केवल नयनों के रूप का वर्णन नहीं है—"राजीवलोचन. . ." आदि कहकर। यहाँ सौन्दर्य देखा जा रहा है दृष्टि का—नयनों की शक्ति का! सूक्ष्मप्रेमी व्यक्ति हैं ज्ञानेश्वर। स्थूल का निषेध नहीं, खण्डन नहीं, लेकिन स्थूल में राग या आसक्ति भी नहीं; महिमा है सूक्ष्म की।

एक बार विषयों के नागपाश में बुद्धि फँस गयी तो एक प्रकार की मूर्च्छा आ जाती है चित्त को, बुद्धि और वृत्ति भ्रान्त, भ्रमित हो जाती है। हे गुरु महाराज ! आपकी वाणी से भी बढ़कर वह शक्ति आपकी दृष्टि में है जो उस चित्त को उस पाश से निकाल कर मूर्च्छा मिटा देती है।

तरी कवणातें तापु पोळी। कैसेंनि वो शोकु जाळी।
जरि प्रसादरसकल्लोळीं। पूरें येसि तूं ॥३॥

जहाँ आप की दृष्टि जाती है वहीं प्रसाद-रस-कल्लोल होता है। आत्मानन्द का रस-प्रसाद आप के दशेन्द्रियों में, सर्वाङ्ग में प्रवाहित रहता है। आप की सम्पूर्ण काया उस आत्मानन्द-रस में ओतप्रोत है। उस रस का प्रसाद दृष्टि में उतर आता है। [जो आहार करते हैं वह श्वास में उतर आता है। जैसी चित्त की दशा रहती है उस की परछांई या प्रतिबिम्ब दृष्टि में झलकता है, अतः ज्ञानेश्वर कहते हैं कि—] आप की दृष्टि में रस-कल्लोल है।

काश्मीर शैवदर्शन में 'आत्मोल्लास ही आत्मोपलब्धि है और अनुपाय ही उपाय है। आत्मा का सहज उल्लास ही चरम सिद्धि है।' यहाँ ज्ञानेश्वर महाराज उसी का उल्लेख कर रहे हैं कि हे गुरुमहाराज ! आप के भीतर, समस्त गात्र में आत्मा के सहज उल्लास का कल्लोल है, उसी रस का प्रसाद आप की दृष्टि में उतर आता है। जहाँ आप की दृष्टि पहुँचती है वहां संसार के ताप, शोक पहुँच नहीं सकते। आधि-भौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक आदि त्रिविध ताप उस व्यक्ति को सता नहीं सकते हैं। हर्ष-शोक की व्याधि भी उसको सता नहीं सकती है। ऐसी शक्ति जिस दृष्टि में है उस दृष्टि को मैं नमन करता हूँ।

योगसुखाचे सोहळे। सेवकां तुझेनि स्नेहाळे।
सोहंसिद्धिचे लळे। पाळिसी तूं ॥४॥

आप अपनी दृष्टि से साधकों के लिये क्या-क्या करते हैं ? [ज्ञानेश्वर] महाराज ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही प्रतिज्ञा की है कि शान्तरस द्वारा श्रृंगार को जीत लेंगे, जो श्रृंगार साहित्य के नवरसों में सम्राट् माना जाता है, उसे निर्वेद और शम से उद्भूत शान्त रस द्वारा जीत लेंगे।

भावार्थदीपिका में "ये शब्द नहीं, चिद्रत्नकलिकायें हैं; सरस्वती के भाण्डार से चुन-चुन कर लाये गये हैं। एक बार जो सम्पूर्ण भावार्थ-दीपिका का श्रवण करेगा उसे ये शब्द मोक्षश्री के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किये बिना न रहेंगे!" ....उसी प्रतिज्ञा के अनुसार समस्त रचना है। यहाँ कहते हैं—आपकी यह कृपादृष्टि भक्तों को क्या-क्या सुख देती है? चित्त को निर्विष करती है, योग का सुख दिलाती है। अपने स्वरूप का भान कराती है। सन्त की दृष्टि पड़ते ही माया और मोह हट जाते हैं। और स्वरूप का भान आ जाता है कि मैं कौन हूँ? क्या हूँ? एक दृष्टिक्षेप मात्र से आप शिष्य को, भक्त को, अपने स्वरूप के साथ जोड़ देते हैं। यही तो योग है। वही परम सुख आप की दृष्टि वरदान के रूप में भक्त को देती है। उस व्यक्ति के चित्त में फिर अपने स्वरूप का आनन्द ही आनन्द रहता है।

प्रत्येक व्यक्ति के भीतर, प्राणों में समायी हुई एक अभीप्सा होती है अपने आप को जानने की उस अभीप्सा को आप (श्रीगुरुकृपादृष्टि) पूरी करती हैं। माता-पिता जैसे बच्चों को उन के प्रिय खिलौने आदि देकर चाव पूरे करते हैं, वैसे आप अपने प्रियजनों को स्वरूप के साथ योग का सुख देते हैं और 'मैं वही हूँ, वही सनातन शाश्वत सच्चिदानन्द मेरा स्वरूप है'—इस बोध की सिद्धि-उपलब्धि आप करा देती हैं। नाथपन्थ को 'सिद्ध-पन्थ' 'सिद्ध-मत' बीज-मार्ग' 'निजयोग-पथ' कहा जाता है। उसी का सङ्केत यहाँ दिया गया कि मनुष्य-मात्र की एक ही अभीष्ट-सिद्धि है—'स्वयं का स्वरूप देखना, समझना, उस में प्रतिष्ठित रहना।' हे गुरुकृपादृष्टि! यही आप पूरी कर के निजरूप के साथ उसे जोड़ देती हैं। यह योग कैसे देते हैं?—

आधारशक्तिच्या अंकीं। वाढविसी कौतुकीं।
हृदयाकाशपल्लकीं ।परिये देसी निजें ॥५॥

प्रत्यग्ज्योतीची वोवाळणी। करिसी मनपवनांची खेलणी।
आत्मसुखाची बाळलेणीं। लेवविसी ॥६॥

आधारचक्र में एक कुण्डलिनी नामक शक्ति है, अपने भक्तों को दृष्टि से दीक्षित करके आप उस आधारशक्ति की गोद में बैठा देते हैं बड़े प्यार से। वह कुण्डलिनी शक्ति उसे हृदयाकाश में स्थित अव्यक्त

झूले में बैठा देती है। (इस योग-मार्ग की परिभाषा के विवरण में उतरने का यहाँ अवकाश नहीं, केवल शब्दार्थ देखते हुए आगे बढ़ें)

झूला झूले घट माँही, मेरो प्रभु झूला झूले घट माँही !
जागृत स्वप्न सुषुपति तुरिया ये चहुं पाग लगाई !
ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय दोनों दुइविध डोर हलाई !
पंचकोशन की बिछी है गदरियाँ बीच बैठो है कन्हाई !
'हंसः सोहं' झूला झुलत है, ब्रह्मभुवन झुझुराई !
सप्त चक्र की माला पहनाई, बहुविधि फूल लगाई !
तुकड्यादास बना इक झुलना, आनंद उर न समाई !
मेरो प्रभु झूला झूले घट माँही !

घट में हृदयाकाश में झूल रहा सूक्ष्म झूला और उसमें झूलने का आनन्द मना रही आत्म-विभूति का वर्णन तो स्थूल शब्द करें कैसे ?

उस झूले या 'पलने' का रूपक और आगे बढ़ता है। बच्चे को नहला-धुलाकर आप पालने में सुलाते हैं, तब कुछ उसे अलङ्कार पहनाकर सजाते भी हैं और उसके हाथ में झुन्झुने जैसे खिलौने भी देते हैं या पलने में लटका देते हैं जिसे देख-छूकर शिशु आनन्दित हो। तो यहाँ गुरुदृष्टि भक्त को मन-प्राण के खिलौने (प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान समाधि) देती हैं 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' 'सोऽहं' सिद्धि तक पहुँचने के लिए मन-प्राण के संयम-साधन के पथ से जाना होता है। वही खिलौने देती है गुरुकृपादृष्टि। फिर, जैसे नन्हे बच्चे को नजर न लगे, इसलिए आरती उतारी जाती है वैसे श्रीगुरु साधक को 'आत्मज्योति' दिखा देते हैं। प्राणायामादि में से आगे बढ़ाते-बढ़ाते जब हृदयाकाश में साधक पहुँचता है तब उसे आत्मज्योति की झलक दिखा देते हैं।

सतरावियेंचे स्तन्य देसी। अनाहताचा हल्लरु गासी।
समाधिबोधें निजविसी। बुझाउनि ॥७॥

खिलौनों से खेलते-खेलते उनींदे हुए कभी रोने लगे शिशु को मना-बुझाकर, चुप कराके सुखभरी नींद में सुलाने के लिये माँ उसे अपना दूध पिलाती हैं, और लोरी गाती है। सो, श्रीगुरुकृपादृष्टि अपना गूढ़ स्वरस सत्रहवीं कला-रूपी स्तन्य (ब्रह्मरन्ध्र में से झरता अमृत) देती है और अनाहत नाद की लोरी सुनाती है।

'जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में है, जो पिण्ड में है वह ब्रह्माण्ड में है'—यह भी नाथसम्प्रदाय का एक सूत्र है। ब्रह्माण्ड में जितने भी नाद हैं वे किसी न किसी टकराव-घर्षण में से उत्पन्न होते हैं, अतः आहत नाद (sound born of friction) हैं। उन्हें लाँघते हुए आगे बढ़े तो एक स्वयम्भू-समग्र-अनाहत नाद (self-generated homogeneous sound) है। वह नाद सुनने का सामर्थ्य देती है गुरुकृपा-दृष्टि। यही लोरी सुनाना, गाना है। और साधक के अपने ही पिण्ड (शरीर) में (मस्तक में) जो अमृतकलश रखा हुआ है, आनन्द रस का स्रोत भीतर ही विराजमान है, उसका आस्वादन करने-पीने की शक्ति साधक में जगा देती है श्रीगुरुकृपादृष्टि; और समाधि का रहस्य समझा देती है (यही रोते शिशु को मनाना-चुपाना-बुझाना हुआ।)

इसीलिये महाराष्ट्र में श्रीगुरु को 'माँ' ('माउली') कहने की प्रथा है। श्रीगुरु-रूप सन्तों को, भगवान् को भी प्रेम से पुकारने में 'माउली' कहा जाता है—

"विठोबा-माउली !, ज्ञानोबा-माउली ! श्रीगुरु-माउली !"

उसी भाषा में कहते हैं—

म्हणोनि साधकां तूं माउली। पिके सारस्वत तुझा पाउलीं।
या कारणें मी साउली। न संडी तुझी ॥८॥

हे श्रीगुरुकृपादृष्टि ! तुम साधकों की माँ हो ! (देशी हिन्दी बोलियों में 'माई !' 'मैय्या !' 'मावा', गुजराती में 'मावडी ! मांडी।' आदि) आप के चरण जहाँ पड़ते हैं वहाँ 'सारस्वत' (साहित्य) की फसल उगती-पकती है। निरक्षर व्यक्ति भी रससिद्ध कवि हो जाता है। (यह सामने बैठे अपने श्रीगुरु श्री निवृत्तिनाथ को लक्ष्य करके कह रहे हैं कि आप की दृष्टि पड़ने का ही यह प्रताप है कि यह बालक जो कुछ बोल रहा है वह उत्तम साहित्य बनकर प्रकट हो रहा है, अन्यथा इस बालक में क्या सामर्थ्य थी कि श्रीमद्भगवद्गीता का भावार्थ कह सके !) इसलिये मैं क्षणभर के लिये भी आपकी छाया न छोड़ूँगा।

अहो सद्गुरुचिये कृपादृष्टि। तुझें कारुण्य जयातें अधिष्ठी।
तो सकळविद्यांचिये सृष्टि। धाता होय ॥९॥

हे सद्गुरुकृपादृष्टि ! जहाँ आपकी कारुण्यवृष्टि होती है, उस व्यक्ति में सकल विद्याओं की सृष्टि का धाता (ब्रह्मा) बनने की शक्ति आती है।

(ज्ञानेश्वर महाराज के शब्दों में अर्थ का सागर है, भाव का सागर है, उनकी योग-विद्याओं की छटायें हैं, काव्य का रस भरा पड़ा है। उसका पूरा विवरण कहने लगें तो कभी विराम नहीं आ सकता। यहाँ तो केवल परिचय-भर कराने का अवकाश है—६-७ दिन में पूरा बारहवाँ अध्याय कहना है। जो मराठी-भाषी नहीं एवं ज्ञानेश्वर-वाणी-वैभव से परिचित नहीं, उन्हें थोड़ा-सा वह रस चखा देने-भर का अवसर है यह, कि वे किस कोटि के साहित्यिक थे, किस कक्षा के योगी थे, किस ज्ञान के अधिकारी थे, फिर भी अपनी बात कैसी सहजता से रखते चले जाते हैं ?)

हे सद्गुरुकृपादृष्टि ! जिस पर आपकी करुणावृष्टि होती है उसमें सकल-विद्याओं की सृष्टि करने की क्षमता आती है।

म्हणोनि अंबे श्रीमन्ते । निजजनकल्पलते ।
आज्ञापीं मातें । ग्रन्थ-निरूपणीं ॥१०॥

वैसी दृष्टिरूपिणि हे अम्बे ! माँ ! आप तो अपने जनों के लिये कल्पलता-स्वरूप हैं ! अब मुझे ग्रन्थनिरूपण की आज्ञा दीजिये। [आज्ञा माँगने में भी ज्ञानेश्वर का नखरा देखिये—]

नवरसीं भरवीं सागरु। करवी उचितरत्नांचे आगरु।
भावार्थाचे गिरिवरु। निफजवीं माये ॥ ११ ॥

[भक्ति के बारे में प्रायः ऐसी धारणा है कि भक्त दीन होगा। ज्ञानेश्वर कहते हैं भक्ति में लीनता होगी, दीनता नहीं। लीनता-विनम्रता का अर्थ परापेक्षी बनना नहीं, आत्मनिर्भरता-आत्मविश्वास होना है। ज्ञानेश्वर के प्रत्येक शब्द में वह आत्मविश्वास का लावण्य है, विनम्रता का ऐश्वर्य है।—वे कह रहे हैं—] नवरसों का सागर जो मेरे चित्त में पड़ा है, उस सागर में ऊर्मियाँ उठें, कल्लोल उमड़ें—इतनी आज्ञा मुझे दीजिये। यह नहीं कहा कि "आप मेरी वाणी में नवरस उँडेल दीजिए !" भिक्षा नहीं माँगते वे ! उन्हें प्रत्यय है कि "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति ! अतः मेरे हृदय में भी ईशतत्त्व विराजित है ही।"

इसलिये आप बस प्रेरणा दे दीजिये इस सागर में कल्लोल उठने की ! आपकी इतनी प्रेरणा, आशीर्वाद ही पर्याप्त है, आगे का मैं देख लूंगा। फिर इस सागर में से नाना रत्न-रस-रंग प्रकट होंगे।

साहित्यसोनियाचिया खाणीं। उघडवी देशियेचिया आक्षोणी।
विवेकवेलीची लावणी। हों देई सैंघ ॥१२॥

प्राकृत (देशी) भाषा की पृथ्वी में से सोने की खान प्रकट होने दीजिये, ताकि जब मैं बोलने के लिये मुख खोलूं तो इस भाषा में से सोने जैसे निष्कलङ्क सुदीप्त शब्द प्रकट हों। सुवर्ण युगों-युगों तक निष्कलङ्क ही रहता है, उसे अग्नि में डालें तो और निखर उठता है। मेरे सामने पण्डित बैठे हैं [निवासे में महाराष्ट्र के सभी विद्वान् पण्डित इकट्ठे होकर बैठे थे—उस शिवालय में जहाँ ज्ञानेश्वर भावार्थदीपिका कह रहे थे !—सब बड़ी उत्सुकता और परीक्षा-भाव से एकत्र हुए थे कि यह संन्यासी की सन्तान, बारह बर्ष का किशोर बालक श्रीमद्-भगवद्गीता का अर्थ कहने बैठा है ? वह भी देशी भाषा में ? देखें क्या करता है ? बड़ी शंका, उपेक्षा लिए और तर्क-कुतर्क करने को सज्ज (तैयार) होकर पण्डित बैठे हैं। इसलिये ज्ञानेश्वर श्रीगुरुकृपादृष्टि से प्रार्थना करते हैं कि—] मेरे मुख से शाश्वत सत्य को कहने वाले निष्कलङ्क सुवर्ण जैसे शब्द निकलें ! पीतल के नहीं—जो कभी काले पड़ सकें।

संवादफळनिधानें। प्रमेयाचीं उद्यानें।
लावीं म्हणे गहनें। निरंतर ॥१३॥

पाखण्डाचे दरकुटे। मोडी वाग्वाद अव्हांटे।
कुतर्कांचीं दुष्टें। सावजें फेडी ॥१४॥

श्रीकृष्णगुणीं याते। सर्वत्र करीं के सरतें।
राणिवे वैसवी श्रोते। श्रवणाचिये ॥१५॥

[श्री ज्ञानेश्वर प्रत्येक रात्रि में गा-गा कर ओवी-रचना करते—सच्चिदानन्द बाबा नामक एक वृद्ध लिखने के लिये बैठते, फिर दिन में सभा में कथा होती थी। अतः कहते हैं कि—] यह जो मैं भावार्थदीपिका कह रहा हूँ—इसमें से संवाद निष्पन्न होना चाहिए। [एक व्यक्ति बोले और दूसरे केवल सुनते रहें. तो प्रवचन-व्याख्यान-भाषण हो जायेगा, पर

संवाद निष्पन्न नहीं होगा। संवाद तब होता है जब दूसरी तरफ से श्रोता ग्रहण करते हैं। वक्ता-श्रोता उस समय भगवान् वासुदेव-रूप हो रहते हैं] जो सुनने बैठे हैं वे 'श्रोता' होंगे या नहीं ? यह शंका इसलिये उठी कि ये पाण्डित्य लेकर आये हैं। विद्वद्‌जनों में पाण्डित्य का एक बड़ा उपाधि-व्याधि होता है। इसीलिये वे सुन नहीं पाते हैं। सुनते-सुनते वे तुलना करने लगते हैं अन्य आचार्यों से, अन्य मतों-सिद्धान्तों-दर्शनों से। तुलना में व्यस्त-ग्रस्त चित्त, पाण्डित्य से जकड़ा-अकड़ा चित्त श्रवण नहीं कर सकता। इसलिये आशीर्वाद मांग रहे हैं कि शीघ्र ही श्रवण-शक्ति के साम्राज्य पर इन श्रोताओं को बैठा दीजिये। ताकि इस कथा की फलश्रुति संवाद बने। यह केवल प्रवचन न रह जाय !

> मर्हाठियेचा नगरीं। ब्रह्मविद्येचा सुकाळु करीं।
> घेणें-देणे सुखचिवरी। हों देईं या जगा ॥१६॥
> तूं आपुलेनि स्नेहपल्लवें। मातें पाँघरुविशील सदैवें।
> तरि आतांचि हे आघवें। निर्मीन माये ॥१७॥

इस मराठी भाषा की नगरी में ब्रह्मविद्या का सुकाल (भरपूर अभीष्ट वर्षा) हो जाय; जो पाखण्डी लोग (अतिप्रतिष्ठित कुतर्क करने वाले, अध्ययन के बिना, पार्श्वभूमि को समझे बिना केवल बुद्धि का दुष्ट-प्रयोग करने वाले) जो यहाँ बैठे होंगे उनके कुतर्कों के व्याघ्रों का सामना करने की शक्ति भी चाहिये। शास्त्र देखे बिना ही 'इसमें क्या रखा है ?' कहकर बेकार के तर्क करना, अर्थ समझे बिना ही उपेक्षा या मज़ाक करना—यह पाखण्ड है, केवल शास्त्र को अमान्य करना नहीं। शास्त्र की बात—सिद्धान्त समझने के बाद उसे मानने या न मानने का अधिकार सब को है, पर निराधार तर्क-कुतर्क उठाकर अवहेलना-अवज्ञा करना दोष है।) वाद करने के लिये भी तो अध्ययन चाहिये। तभी 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'। अध्ययन न हो तो 'वादे जायते विवादः' वैसे वाद-विवाद में से संवाद निष्पन्न नहीं हो सकता। तो, उन पाखण्डी लोगों को उत्तर देने की शक्ति भी श्रीकृष्ण-कृपा से मुझ में रहे ऐसा आशीर्वाद दीजिये।

आप के स्नेह-पल्लव को छाया-मात्र मैं चाहता हूँ वह मिले तो इसी क्षण में वह सब स्वयं निर्माण कर लूँगा।

> इये विनवणीयें साठीं। अवलोकिलें गुरु-कृपादृष्टीं।
> म्हणे गीतार्थेसी उठीं। न बोलें बहु ॥१८॥

तेथ जी जी महाप्रसादु । म्हणोनि साविया जाला स्वानन्दु ।
आतां निरोपीन प्रबन्धु । अवधान दीजे ॥१९॥

इतना विनय ज्ञानेश्वर ने किया तो श्रीनिवृत्तिनाथ ने उन की ओर दृष्टिक्षेप किया—उसी में कहा गया कि बहुत बोलने की आवश्यकता नहीं है, अब तू गीतार्थ प्रारम्भ कर! वन्दना-स्तवन बहुत हो चुका। भीतर ही से यह समझ कर ज्ञानेश्वर बोले जी! यह महाप्रसाद मिल गया, अब मैं गीतार्थ कहना प्रारम्भ करता हूँ। सब लोग अवधान दीजिये।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

तरी सकलवीराधिराजु । जो सोमवंशीं विजयध्वजु ।
तो बोलता जाहला आत्मजु । पाण्डुनृपाचा ॥२०॥
कृष्णातें म्हणे अवधारिलें । आपण विश्वरूप मज दाविलें ।
तँव नवल म्हणोनि बिहालें । चित्त माझें ॥२१॥
आणि ये कृष्णमूर्तीचो सवे । या लागी सोय धरिली जीवें ।
तंव नको म्हणोनि देवें । वारिलें मातें ॥२२॥
तरि व्यक्त आणि अव्यक्त । हे तूंचि एक निभ्रान्त ।
भक्तीं पाविजे व्यक्त । अव्यक्त योगें ॥२३॥

पाण्डुकुल का आत्मज, सोमवंश का विजयध्वज वह वीराधिराज पार्थ कहने लगा—

हे प्रभु आप सुन रहे हैं? मेरे अनुरोध के कारण आपने (११ वें अध्याय में) मुझे अपना विश्वरूप दिखाया। वह रूप देख कर मेरा चित्त बहुत भयग्रस्त हो गया था। तब आप ने पुनः कृपा कर के अपना यह कृष्ण-रूप धारण कर लिया। इससे मैं समझ गया कि अव्यक्त और व्यक्त दोनों आप के ही रूप हैं। आप ही अव्यक्त भी हैं, और व्यक्त भी। भक्ति द्वारा आपको व्यक्तरूप से पाया जाता है, अर्थात् व्यक्त जो आप हैं, उन्हें देखा जाता है, और योग-मार्ग में आप जो अव्यक्त हैं उनको पाया जाता है।

या दोन्हीं जी वाटा । तूतें पावावया वैकुंठा ।
व्यक्ताव्यक्त दारवंठां । रिगिजे येथ ॥२४॥

पैं जे वानी श्यातुका। तेचि वेगळिया वाला येका।
म्हणोनि एकदेशीया व्यापका। सरिसा पाहू ॥२५॥

हे वैकुण्ठ ! (जहाँ से समस्त कुण्ठा विगत हो गई, निकल गई, ऐसे) आप को पाने के ये दोनों मार्ग हैं—योग और भक्ति। अव्यक्त में जो आप हैं वे योगमार्ग से पाये जाते हैं और व्यक्त में जो आप हैं वे भक्तिमार्ग से पाये जाते हैं। इन दोनों में से आप को कौन अधिक प्रिय हैं? योगमार्ग से आपके अव्यक्तरूप को पाने वाले? या भक्तिमार्ग से व्यक्त की उपासना करने वाले?

अर्जुन श्रीकृष्ण से प्रश्न पूछ रहे हैं। कहते हैं कि "भक्ति मार्ग से— आप जो व्यक्त सृष्टि में ओत-प्रोत हैं उनको पाया जाता है और योगमार्ग से आपका जो अव्यक्त स्वरूप है उसे पाया जाता है। इन दोनों में कौन अधिक प्रिय है प्रभु आपको?" इसी भूमिका को आगे की ओवियों में प्रकट कर रहे हैं।

अमृताच्या सागरीं। जे लाभे सामर्थ्याची थोरी।
तेचि दे अमृतलहरी। चुळीं घेतलिया ॥२६॥

हे कीर माझ्या चित्तीं। प्रतीति आथि जी निरुतीं।
परि पुसणें योगपती। ते याचिलागीं ॥२७॥

जें देवा तुम्हीं नावेक। अंगीकारिलें व्यापक।
तें साचें की कवतिक। हें जाणावया ॥२८॥

अमृत का सागर हो; उसमें सञ्जीवन-शक्ति हो, मान लीजिये किसी ने उस सागर में से एक अञ्जलि या एक घूंट जल पी लिया। तो उस घूंट में भी वही शक्ति है संजीवनी की, जो पूरे सागर में है। इसलिए हे प्रभु आपका जो अव्यक्त स्वरूप है उसमें जो-जो शक्तियाँ और विभूतियाँ हैं, वे आपके इस एक प्रकट विग्रह-श्रीकृष्णकाय में भी हैं, ऐसी प्रतीति मेरे चित्त में है। सुवर्ण के गुण सुवर्ण के छोटे से कण में भी हैं। अतः आपके निर्गुण, अव्यक्त, व्यापक स्वरूप में और जो सगुण साकार व्यक्त बना, जो नाम-रूप में आ गया उसमें भी आपके वे ही नाम-रूप-गुण-शक्तियाँ हैं जो सर्वदेशी में हैं। यह प्रतीति मुझे है। किन्तु हे योगपति! (ज्ञानेश्वर महाराज एक एक शब्द का प्रयोग विशिष्ट हेतु से करते हैं, वे साहित्य के सम्राट् हैं, कवि-शिरोमणि हैं, योगियों के चक्रवर्ती हैं,

ज्ञानियों के अनभिषिक्त सम्राट् हैं; वे यहाँ अर्जुन-मुख से सम्बोधन कर रहे हैं—हे योगपति) ! मनुष्य जीवन की सफलता योगी होने में है। और योग की व्याख्या प्रातःकाल देखी गयी थी कि जीवन जीते हुए प्राणियों के साथ, पदार्थों के साथ, सृष्टि के साथ जो सम्बन्ध हैं, उन्हें जीते हुए चित्त का समत्व न छूटे, वह सम्बन्ध अक्षुण्ण रहे, अचल रहे, और इन्द्रियगत बाह्य व्यवहार में भी सन्तुलन कायम रहे। चित्त में समत्व और इन्द्रियगत व्यवहार में सन्तुलन—ये दोनों जहाँ रहते हैं वहाँ योगावस्था है। ऐसे योगियों के जो पति हैं, श्रेष्ठ हैं, उन श्रीकृष्ण से प्रश्न पूछता है एकदेशी और सर्वदेशी के बारे में, व्यक्त-अव्यक्त के बारे में सगुणभक्ति और निर्गुणभक्ति के बारे में।

हे योगपति, में इसलिये पूछ रहा हूँ कि आपने जो पलभर के लिये मुझे विश्वरूप दर्शन कराने के लिये व्यापक रूप धारण कर लिया था, वह सही-सही आपका रूप है या एक कौतुक है ? क्षणमात्र के लिये, चमत्कार दिखाने के लिये आप ने वह स्वरूप धारण किया था ? या सचमुच ही वह व्यापकता आपका उपादान है ? वह आपका स्वरूप सत्य ही ऐसा है ?" (वह साढ़े तीन हाथ का श्रीकृष्ण-वासुदेव नाम का तनु अर्जुन को दिखता था। वे उसके (फुफेरे) भाई भी थे, अन्तरङ्ग सखा भी थे इसलिये पूछते हैं अर्जुन कि ये जो श्रीकृष्ण मेरे सामने हैं इन का ही क्या वह सत्त्व होगा जो ब्रह्माण्ड-व्यापक देखा ?)

तरि तुजलागीं कर्म। तूंचि जयाचें परम।
भक्तीसी मनोधर्म। विकोनि घातला ॥२८॥

इत्यादि सर्वा परीं। जे भक्त तूंते हरी।
बांधोनिया जिव्हारीं। उपासितीं ॥२९॥

आणि जे प्रणवापैलीकडे। वैखरीयेसि जें कानडें।
कायिसयाहि सांगडें। नव्हे जें वस्तु ॥३०॥

तें अक्षर जी अव्यक्त। निर्देश-देश-रहित।
सोऽहंभावे उपासित। ज्ञानिये जे ॥३१॥

तयां आणि जी भक्तां। येरयेरांमाजीं अनन्ता।
कवणो योगु तत्त्वता। जाणितला सांगा ॥३३॥

इया किरीटीचिया बोला। तो जगद्‌बन्धु संतोषला।
म्हणे हो प्रश्नु भला। जाणसी करूँ ॥३४॥

सगुण भक्त और निर्गुण भक्त में जो अन्तर है वह बताना चाहते हैं। मनुष्यकाया मिली है तो कर्म नहीं छूट सकता। मिट्टी जैसे घड़े का उपादान कारण है, वैसे कर्म ही मनुष्यकाया का उपादान कारण है, जो कारण या संघटक कार्य में प्रवेश किये रहता है। कुम्हार ने चक्के द्वारा मिट्टी के लौंदे से घड़ा बनाया। कुम्हार निमित्त कारण है, चक्का उपकरण हुआ, वे दोनों अलग रहे। वह मिट्टी घड़े में बनी रही। मिट्टी ही घड़े के रूप में प्रविष्ट होकर जब तक घड़ा आकार रहे तब तक 'घड़ा' कहलाती है, फिर आकार न रहने (टूट जाने) पर भी मिट्टी बनी ही रहती है। अतः मिट्टी घड़े का उपादान कारण है। उसी प्रकार मनुष्य की पञ्चमहाभूतों से बनी काया कर्म के कारण है। हमें यहाँ गहराई में नहीं उतरना है कि कैसे कर्म के कारण प्रारब्ध-क्रियमाण-संचित कर्म निर्माण होते हैं। पर मनुष्य क्षण भर के लिये भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता—"क्षणमपि न जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।" क्योंकि उस की इन्द्रियों में पिछले किये हुए कर्मों के संस्कारों की गति भरी है।

उसी सन्दर्भ में महाराज सगुणभक्त का वर्णन कर रहे हैं। संकेत में कहना कवियों का स्वभाव होता है, वे क्रान्तदर्शी होते हुए रसात्मक वाक्यों में यथार्थ दर्शन कराते हैं—'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि'।

हे प्रभो ! शरीर से, मन से, वाणी से होने वाले उन (भक्तों) के जो-जो भी कर्म हों वे आपके प्रीत्यर्थ होते हैं। आपके लिये—आपके निमित्त से—आपके प्रेम से प्रवृत्त होते हैं। भक्त के जीवन में और कोई प्रयोजन नहीं, लक्ष्य नहीं, साध्य नहीं। जो भी है व किया जाता है सब 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' के भाव से ओतप्रोत रहता है। इस प्रकार 'हरि ॐ तत्सत्" कहते हुए वे सभी कर्म प्रभु के लिये करते हैं, अपने लिये नहीं। "पल भर भी नहीं विभक्त। वही कहलाता भक्त" जिसका प्रतिपल अनुसन्धान रहता है प्रभु के साथ, ऐसे भक्त के कर्म उस अनुसन्धान के कारण प्रभु-प्रीत्यर्थ बन जाते हैं। उनके मन के, चित्त के, सभी धर्म (वृत्तियाँ) हे प्रभु आपको बिके हुए हैं। उनका मन आपके हाथों में बिका हुआ है।

"जित बैठा दे उतही बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ!
मेरी उनकी प्रीत पुरानी, बार-बार यह सुनाऊँ।
जो पहिरावे सो ही पहरूँ, जो देवे सो खाऊँ!"

उनका मन प्रभु को बिक चुका है, इसलिये उनके मन की प्रत्येक वृत्ति, प्रत्येक इच्छा-वासना प्रभु के ही अनुसन्धान में है। तुम्हारी सेवा करने के लिये, तुम्हारे प्रति जो प्यार है, उसे व्यक्त करने के लिये अपनी सभी वृत्तियों से वे तुम्हारी पूजा करते रहते हैं।

[यह भक्तियोग बड़े मजे का है! भारत से बाहर कहीं आपको ऐसे भक्तियोग-शास्त्र के दर्शन नहीं होंगे।] भक्ति का अधिष्ठान यह है कि परमात्मा सर्वव्यापी हैं। यह जो विश्व की अनेकता, विविधता, विलक्षणता है यह किसी एकता के सूत्र में पिरोयी हुई है। यह अनेकता जीवन की एक सत्ता का श्रृंगार है, प्रसाधन है। ऐसे अद्वैत के अधिष्ठान पर भक्ति का विहार है।]

हे हरि! ऐसे भक्त तुम्हें अपने प्राणों में बाँधे रहते हैं। (यहाँ भक्ति की विशिष्टता आई कि जो निराकार-निर्गण-अद्वितीय सत्ता सर्व में व्याप्त है, उसका एक प्रतीक बनाया सगुण विग्रह को। प्रतिमा घर लाकर उसमें अपने सभी भावों से, पञ्च प्राणों से प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं, उसे सर्वात्मक सर्वव्यापी निराकार-निर्गुण-परब्रह्म का प्रतिनिधि व अपना आराध्य बना लेते हैं। उस छोटी सी प्रतिमा-प्रतिनिधि-प्रतीक के माध्यम से सर्वाकार सर्वव्यापी परमसत्ता से अनुसन्धान व सम्बन्ध जोड़े रहते हैं।

किसी व्यक्त आलम्बन के बिना सर्वव्यापी अद्वितीय परम सत्ता से अनुसन्धान-सम्बन्ध रखने की शक्ति सबमें नहीं होती, इसलिये युक्ति है। युक्ति का अर्थ—Trick या 'चाल' नहीं, युक्त कर्म है—परम सत्ता से जुड़े रहने का भाव है। अखिल-ब्रह्माण्ड-व्यापी एक ही श्रीहरि से अनुसन्धान जुड़ा रहे इसके लिये भावसम्बन्ध बांधते हैं।

प्यार से तुझे बांध कर वे तुम्हारे पास बैठते हैं—उपासना करते हैं। उप समीप, आसन बैठना। सर्वव्यापी के साथ बैठने के लिये एक प्रतीक बनाया, उसके सामने अपने भावों को व्यक्त करते हैं।

हे प्रभु! ऐसे सगुण भक्त आपको प्रिय हैं अथवा जो प्रणव-एकाक्षर ब्रह्म-ॐ अक्षर से भी परे है, जहाँ वाणी पहुँच नहीं सकती, (जहाँ मन पहुँचता है वहीं तक वाणी पहुँचती है) जहाँ मन नहीं पहुँच पाता

ऐसा जो तुम्हारा अव्यक्त स्वरूप है ऐसा जो वाणी से परे है, अवाङ्मनोगोचर है

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

वाणी से जिसका उच्चारण नहीं हो सकता, कानों से जिसे सुना नहीं जा सकता, ऐसा जो आपका स्वरूप है, जो वस्तु-रूप है, जो तत्व-रूप है—

"देह में तेज तू, तेज में तत्व तू
शून्य में शब्द बन वेद भाखे।
अखिल ब्रह्माण्ड में एक तू श्रीहरि
विविध-रूपी वैकुण्ठ भासे।"

वह जो आपका अक्षर-अव्यक्त स्वरूप है, जिसका कभी क्षरण नहीं होता, जिसमें बढ़ना-घटना नहीं। जो व्यक्त हुआ, जिसने बिन्दु रूप धारण किया, फिर धारा बना, उसका क्षरण होता है। जिसका प्रारम्भ है उसका अन्त भी है; आपका जो स्वरूप अक्षर, अव्यक्त, अनन्त है—जो निर्देश रहित है !—शब्द से निर्देश हो सकता है किसी सीमित वस्तु का। और शब्द में केवल वस्तु का निर्देश करने की शक्तिमात्र है, इङ्गित कर देता है। पर प्रभु आपका जो स्वरूप निर्देश-संकेत-इङ्गित से भी परे है। ('देश कालातीत प्रभु का स्वरूप है' यह तो सभी कहते हैं, लेकिन कवि-कलाविदग्ध ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं) निर्देश-देश-रहित ! न कहा जा सकता है न कोई स्थान दिखाया जा सकता है—न किसी ओर इङ्गित हो सकता है, क्योंकि वह सब सीमित में ही सम्भव है।

ऐसी मन-बुद्धि-वाणी के किसी भी कोटि के स्पर्श से परे जो आपका स्वरूप-तत्त्व है उसकी उपासना करने का कोई मार्ग तो होगा ? सगुण भक्ति के लिए तो प्रतीक मिल गया, 'अक्षर प्रणव' रूप, या 'नाम' रूप या सर्वदेशी के एकदेशी विग्रह रूप, पर अव्यक्त-अनन्त की उपासना कैसे होगी ?—इस पर कहते हैं—) ज्ञानी आपकी उपासना करते हैं 'सोऽहं' भाव से। देहभाव, मनोभाव के आगे बढ़कर 'ब्रह्म'-भाव—"मैं

वही हूँ ! मैं वही हूँ !" उपासना अध्यास के बिना नहीं हो सकती। जैसे आप छोटी-सी मूर्ति पर अध्यास करते हैं सर्वव्यापी परमात्मा का; वैसे ज्ञानी अपनी चेतना के बिन्दु 'अहं' को विग्रह बना लेते हैं 'ब्रह्म' का। फिर 'अहं' को सीमित करने वाली विविध सङ्कीर्ण अस्मिताओं—'मैं अमुक नाम वाला', 'अमुक वंश में-जाति में कुल में उत्पन्न हुआ', 'अमुक सम्प्रदाय का अनुयायी', 'अमुक देश-क्षेत्र में उत्पन्न हुआ' इत्यादि को लाँघकर आगे निकल कर, यानी उन छोटे-छोटे अध्यासों को हटा कर "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा व्यापक अध्यास धारण कर लेते हैं।)

ज्ञानी इस ब्रह्म-भाव के अध्यास द्वारा उपासना करते हैं—"चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्" 'नाहं देहो नेन्द्रियाणां तरङ्गः' (मैं देह नहीं, इन्द्रियों के तरङ्ग मैं नहीं ... मैं अजर-अमर चिद्रूप आनन्दरूप शिव हूँ।"

हे प्रभु ! कहिये तो कि इन दोनों में सच्चा योगी कौन है ? किसने आपका सच्चा स्वरूप पहचाना है और आपमें सतत युक्त हो गया है ? आपके इन दो रूपों की उपासना करने वालों में से किसने आपका मर्म वस्तुतः जाना ? सगुण भक्तों ने या निर्गुण ज्ञानियों ने ? सगुण भक्ति द्वारा आप सर्वथा जाने जाते हैं या निर्गुण भक्ति द्वारा ?

किरीटी के इन शब्दों को सुनकर जगद्बन्धु श्रीकृष्ण सन्तुष्ट हुए, कहने लगे कि अर्जुन तुम प्रश्न करना भलीभाँति जानते हो ! (११ अध्यायों तक यही तो बताते आये हैं। दसवें में विभूतियाँ कहीं, ग्यारहवें में विश्वरूप दिखा दिया, २ में सांख्ययोग, ३-५ कर्म-कर्मसंन्यास, ६ में आत्म-संयम योग-उपासना, ७ ज्ञानविज्ञान ८ अक्षरब्रह्म-स्वरूप ९ राजविद्या १० विभूतियोग) लेकिन तू बार-बार वही सुनना चाहता है, इसलिये कुछ न कुछ प्रश्न उठाकर तू मेरी बात को समाप्त नहीं होने देता। —यही सब अध्याहार है —'जगद्बन्धु सन्तुष्ट हुए' कहने में।

"तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया"

प्रश्न पूछना एक कला है। अपनी प्रतिक्रियाओं को शब्दों में रखना प्रश्न करना नहीं, वह जिज्ञासा नहीं। प्रश्न प्रतिक्रियाओं से मुक्त रहकर किया जाता है।, यहाँ अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं कि प्रभु ! आपके व्यक्तरूप और अव्यक्तरूप की उपासना करने वाले इन दो प्रकार के भक्तों में से किसने आपका स्वरूप-तत्त्व पहचाना ? कौन सर्वाधिक योगवित् हुए ?

श्रीभगवान् उवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

यहाँ "श्रीकृष्ण उवाच" नहीं कहा। 'भगवान् बोले' कहा इसमें कुछ सूचित किया जाता है; यह वाणी और इसका प्रतिपाद्य वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण में अभिव्यक्त हुई भगवत्सत्ता-रूप विभूति है, इस का निर्देश करने के लिये 'भगवान् बोले'—यह कहा गया।

तरी अस्तुगिरीच्या उपकण्ठीं। रिगालिया रविबिम्बापाठीं।
रश्मि जैसे किरीटी। संचरती ॥३५॥

वर्षाकालीं सरिता। जैसी चढ़ों लागे पाण्डुसुता।
तैसी नीचु नवी भजतां। श्रद्धा दिसे ॥३६॥

जैसे अस्तगिरी पर चढ़े हैं रवि, और नीचे उतरने वाले हैं तब उनकी सब रश्मियाँ उन के पीछे-पीछे चलने लगती है वैसे जहाँ कहीं प्रभु का नाम-गान होता होगा जहाँ कहीं प्रभु का रूपवर्णन हो रहा होगा वहाँ भक्त के चित्त की सभी वृत्तियाँ दौड़ी चली जाती हैं। जहाँ प्रभु का नाम-रूप-ध्यान नहीं वहाँ से लौटकर भक्त की वृत्तियाँ वापस अपने केन्द्र में हृदय में चली आती हैं। अर्थात् भक्तों के हृदय में रस आता है प्रभुसत्ता के अनुसन्धान में। वे विषय सेवन भी करते हैं तो इसी भाव से कि ये प्रभुसत्ता से बने हुए हैं, प्रभु के पैदा किये हुए हैं। इन विषयों में जो रस है वह प्रभु की रसमयी काया का प्रतीक है, इसीलिये सर्वत्र वे रस-सेवन करते हैं। पदार्थों के स्पर्श में उन्हें 'उस पद का स्पर्श' होता है।

वर्षाऋतु में जैसे सरितायें चढ़ती हैं वैसे जहाँ मेरा (प्रभु का) नाम-सङ्कीर्तन होता हो वहाँ मेरे भक्त के हृदय में बाढ़ आती है श्रद्धा की, आनन्द की। (कहाँ संवरण होता है और कहाँ बाढ़ आती है—दोनों का निर्देश महाराज कर रहे हैं। प्रत्येक अरुणोदय के साथ श्रद्धा का नवोदय होता है। क्षणे क्षणे सा नवतामुपैति—क्षण-प्रतिक्षण वह श्रद्धा बढ़ती जाती है जैसे वर्षाकाल में सरिताओं में बाढ़ आती है।

अपने ध्यान देने लायक बात है कि उसके जीवन में भी सुख-दुःख दोनों आते हैं। दुःख के क्षण में, व्याधि-जर्जरता के क्षण में श्रद्धा घटती नहीं, बढ़ती है। यह चित्त में नहीं आता कि "मुझ जैसे निर्दोष व भक्त पर इतना दुःख क्यों ?" सुख को प्रभु का प्रसाद माना तो दुःख को अभिशाप क्यों मानें ? दुःख को भी प्रभु का प्रसाद मानकर जो बाँहें पसार कर ग्रहण कर सकते हैं वे भक्त हैं। सुख का स्वागत होगा, दुःख का उतने ही प्रेम से ग्रहण होगा।

मेरे भक्तों के हृदय में क्षण-क्षण प्रतिदिन श्रद्धा बढ़ती जाती है, सुख आवे दुःख आवे, मान हो-अपमान हो, हर्ष हो, शोक हो, उनकी श्रद्धा में अन्तर नहीं पड़ता। यदि अन्तर पड़ता है तो श्रद्धा बढ़ने में ही परिणत होता है, घटने की ओर नहीं जाता।

परि ठाकलिया ही सागरु। जैसा मागील ही यावा अनिवारु।
तिये गंगेचिये ऐसा पडिभरु। प्रेमभावा ॥३७॥

गंगा सागर के पास पहुँच गयी; सागर से मिलने के लिए हिमालय से दौड़ती चली आयी गंगा। दोनों तटों पर जो सौन्दर्य था उसे देखने ठहरी नहीं, अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती चली आयी।

एक दूसरे अध्याय में सरिता का वर्णन करते हुए महाराज ने कहा है—जो आर्त हैं, अशान्त हैं उनका क्लेश हरते हुए, तृषित हैं उनकी तृषा हरते, प्यास बुझाते हुए, तीर के पादपों का पोषण करते हुए सरिता आगे बढ़ती रहती हैं।

अब सागर से मिलन होने पर भी गंगा का प्रवाह थम नहीं जाता; जल आना रुक नहीं जाता। इसी तरह मेरी उपलब्धि होने के बाद भी मेरे भक्तों के भजन रुकते नहीं, उपासना—प्रभुचरणसेवा चलती ही रहती है।

गंगा के पास जल है, भक्त के पास प्रेमभाव है। (इच्छा-वासना और भाव का अन्तर समझाने का यहाँ समय नहीं है। पर कुछ स्थायीभाव होते हैं, साहित्य व सङ्गीत के प्रेमी जानते हैं उनका अर्थ; प्रत्येक राग-रागिणी का एक-विशिष्ट स्थायी भाव और स्वरूप होता है, विशिष्टभाव जागरण की शक्ति होती है। वैसे मनुष्य की बाह्य स्थूल इच्छा-वासनायें जब शान्त हो जाती हैं तब प्रभु-सत्ता के साथ सधा हुआ जो अनुसन्धान

है उसके कारण एक उत्कट भाव की स्थिति चित्त में स्थायी हो जाती है। प्रेम का स्थूल रूप है भाव। प्रेम भावातीत है। व्यक्त रूप में एक भावकाया का सर्जन होता है। श्वासोच्छ्वास में एक ही भाव स्थिर होता है।) उस भाव-सरिता में नित्य बाढ़ आती रहती है, इसलिये भक्त द्वारा उपासना नित्य चलती ही रहती है।

तैसें सर्वेन्द्रियांसहित। मजमांजीं सूनि चित्त।
जे रातिदिवो न म्हणत। उपासिती ॥३८॥

मुझमें अपना चित्त सभी इन्द्रियों के साथ जिन्होंने प्रविष्ट कर दिया है। [यहाँ का सङ्केत हम-आप जैसे सामान्य जनों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भक्ति एक इन्द्रिय से करने का विषय नहीं है। दिनभर बैठकर भजन गा लिया, रातभर नाच-कूद लिया—तीर्थों में गये, नदी-स्नान किया, मन्दिर गये, विग्रहमूर्ति को दण्डवत् प्रणाम किया धूप-दीप-पुष्प-नैवेद्यादि चढ़ाये, प्रसाद लिया इतने में भक्ति नहीं होती। महाराज कहते हैं—(भक्ति का अर्थ है कि) चित्त सर्वेन्द्रियों स हित प्रभुसत्ता में प्रविष्ट है।

(यह नाथपन्थ में पले हुए योगाभ्यास किये हुए, अद्वैतबोध में प्रतिष्ठित हुए सिद्धयोगी अद्वयभक्त की वाणी है। इसका विषय है अध्यात्म; फिर यह गीतामृत-रूपी दुग्ध सभी उपनिषद् रूपी गायों का दोहन करके निकला हुआ है। यह अद्वैतपरक अध्यात्म जीवन जीने का शास्त्र-ग्रन्थ है। यह केवल पठन-पाठन का विषय नहीं।)

Bhakti is a commitment and involvement of total life. भक्ति में चित्त सभी इन्द्रियों के साथ एक भाव को पकड़ लेता है। [भक्ति को भावना का विषय और ज्ञान को बुद्धि का विषय मानकर व्यवहार में उनसे अलग रहते हुए जो जीते चले जाते हैं, यह विच्छिन्न व्यक्तित्व (split personality) है आज के मनुष्य का। यहाँ महाराज भक्ति का वास्तविक स्वरूप बता रहे हैं। दिन और रात्रि से कोई अन्तर नहीं पड़ता मेरे भक्त के हृदय में, व्यवहार में।

यापरी जे भक्त। आपणपें मज देत।
तेचि मी योगयुक्त। परम मानीं ॥३९॥

हे अर्जुन "वह परमयोगयुक्त है" ऐसा मैं कहूँगा जो अपने आपको ही मुझे समर्पित कर देते हैं। धनदौलत देने भर से भक्ति नहीं होती। वे सर्वेन्द्रियों सहित अपने आपको ही मुझे समर्पित कर देते हैं, चित्त दिन-रात मुझ में ही रखते हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

आणि येर ते ही पाण्डवा। जे आरूढोनि सोऽहंभावा।
झोंबती निरवयवा। अक्षरासी ॥४०॥

हे पाण्डव! और जो दूसरे हैं—निर्गुण निराकार के उपासक हैं—वे 'सोऽहं'—भाव पर आरुढ़ होकर मेरा जो निरवयव अक्षर रूप है जहाँ अवयव नहीं है, जहाँ व्यक्तीकरण नहीं हुआ है, बिन्दु रूप तक में जो व्यक्त नहीं हुआ है, जिसमें स्पन्दन नहीं है, ऐसा जो निस्पन्द, भेद-रहित अ-क्षर-रूप है मेरा, जहाँ कोई अङ्ग नहीं जिसे पकड़ सकें, जिसकी तरफ़ संकेत भी किया जाय! ऐसे मेरे अक्षर रूप को वे पकड़ लेते हैं 'सोऽहं' भाव पर आरूढ़ होकर।

मनाची नखी न लगे। जेथ बुद्धीची दृष्टी न रिगे।
ते इन्द्रियाँ कीर जोगें। काइ होईल ॥४१॥

सितार बजाते समय जो तार छेड़ने के लिये 'नखी' पहनी जाती है वैसे मन रूपी 'नखी' का भी जहाँ स्पर्श नहीं होता; जिसका मनन-चिन्तन (contemplation, reflexion) नहीं हो सकता। बुद्धि की दृष्टि भी वहाँ प्रवेश नहीं पाती। जहाँ ऊर्जा स्थूल रूप में आ कर पदार्थ बन गयी, वहाँ तो स्थूल इन्द्रियों से देखना-छूना, स्पर्श करना होता है, पास पहुँचना व ग्रहण संभव होता है। पर यह तो निरवयव है, निराकार है, इसलिये स्थूल आँख तो नहीं ही पहुँचती वहाँ, बल्कि बुद्धि की दृष्टि भी पहुँच नहीं पाती। मन व इन्द्रियों से स्पर्श करने लायक तो वहाँ कुछ भी नहीं है।

परि ध्यानाही कुवाड़ें। म्हणोनि एके ठायीं न संपड़ें।
व्यक्तीसि माजिवडें। कवणें हि नोहे ॥४२॥

यहाँ तक कि ध्यान का भी विषय नहीं बनता मेरा स्वरूप!

एकदेशी वस्तु को ही ध्यान पकड़ सकता है, लेकिन जो सर्वदेशी है, किसी एक आकार में जो बँधा नहीं, वह ध्यान का विषय कैसे बनेगा ?

[ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहा गया है "न एकान्तेन अविषयः" अर्थात् बुद्धि के लिये वह सर्वथा अविषय नहीं। ज्ञानेश्वर महाराज एक कदम आगे चल रहे हैं--] वे कहते हैं बुद्धि से उसको देखा नहीं जा सकता इतना ही नहीं, जो ध्यान का भी विषय नहीं बनता ! जो स्वरूप है वह विषय नहीं बन सकता । आप दर्पण के सामने खड़े होकर अपने आपको बिम्ब-प्रतिबिम्ब में विभाजित कर लीजिये अपनी सुविधा के लिये, फिर कह लीजिये कि मैंने अपने आपको देखा ! उस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रियाओं के द्वारा स्वरूप को ही द्रष्ट्रा और दृश्य में आप विभाजित कर सकते हैं; साधना के नाम पर यह क्रीडा हो सकती है। फिर कहा जा सकता है कि मैंने ध्यान में आत्मा-परमात्मा को देखा। वह वाचारम्भण मात्र है। वास्तविकता यह है कि जो एकदेशी नहीं, वस्तुतः जो व्यक्त ही हुआ नहीं, वह ध्यान का विषय नहीं हो सकता।

जया सर्वत्र सर्वपणें। सर्वां ही काळीं असणें।
जें पावूनि चिन्तवणें। हिम्पुटी नाहलें ॥४३॥
जे होय ना नोहे। जे नाहीं ना आहे।
ऐसे म्हणोनि उपाये। उपजतीचि ना ॥४४॥

जो परमात्मा सर्वत्र है, सर्वरूप में है, सभी कायाओं में हैं, भूतकाल, वर्तमान और भविष्य—ऐसे सभी काल-विधाओं में जो सर्वदा सत् हैं; जो सदा से है--ऐसा प्रभु का सर्वव्यापी स्वरूप जब समझ में आ गया तो उनका पृथक् एकदेशी ध्यान कैसे होगा ? जो विश्वाधार हैं वे ही विश्वाकार बने हैं, वे ही विश्वम्भर कहलाते हैं। यह समझ में आने पर चिन्तन की शक्ति शरमा गयी कि अब मैं किसका व कैसे चिन्तन करूँ ? मेरे भीतर-बाहर सर्वत्र वे ही तो हैं ? कबीर साहब ने कहा है न !

"बाहर कहूँ तो सद्गुरु लाजे। भीतर कहूँ तो झूठा लो !
भीतर-बाहर सकल निरन्तर गुरु प्रतापे दीठा लो !
ऐसा लो, तत ऐसा लो ! किस विध कहूँ गभीरा लो !"

'तत्त्व को इसी प्रकार समझो' या 'उस प्रकार का समझो'—ऐसा कैसे कहा जाय ? क्योंकि वह सब रूपों में है। तुकड़ो जी ने गाया—

हर देश में तू, हर वेष में तू, तेरे नाम अनेक तू, एक ही है।
तेरी रङ्गभूमि यह विश्व बनी तेरे रूप अनेक तू एक ही है।

यह बात जब समझ में आयी तो अलग उसका चिन्तन करने के लिए कैसे बैठेंगे ? हर कर्म में उसका चिन्तन-अनुसन्धान रखना इतना ही उपाय है।

(ज्ञानेश्वर महाराज मधुराद्वैत के प्रवर्त्तक हैं, ये भक्ति को पञ्चमपुरुषार्थ पूर्णपुरुषार्थ कहते हैं—"चारों पुरुषार्थों की सिद्धि लेकर निकला जो भक्तिपन्थी।" उसका जीवन कृतार्थ है।)

जिसको 'है' कहूँ तो 'नहीं' की छाया में भी वह है ही। अस्ति और नास्ति दोनों सापेक्ष हैं। जहाँ 'नहीं' कहना सम्भव नहीं वहाँ 'है' का भी कोई महत्त्व नहीं रह जाता। परमात्मा का स्वरूप ऐसा है कि उसमें 'है' और 'नहीं' का द्वन्द्व नहीं। उसे कहने का या उसके ध्यान का उपाय क्या हो ? इसीलिए काश्मीरशैव-दर्शन में कहा गया—"अनुपाय एव उपायः" केवल सत्य को समझना होता है कि सत्य क्या है ? क्यों है ? वह समझना ही भक्ति है। जीवन जीने के कर्म में उस समझ को जीना ही भक्ति है।

जें चळे ना ढळे। सरे ना मैळें।
ते आपुले निचि बळें। आंगविले जिहीं ॥४५॥

वह चलता नहीं, चलित नहीं होता; खिसकता नहीं, च्युत नहीं होता, ऐसा अक्षर-अच्युत परमात्मा का स्वरूप सत्य जिनकी बुद्धि में या वाणी में कैद न रहकर जीवन जीने के प्रत्येक क्षण व कर्म में उतर आता है, वे भक्त हैं।

सत्य केवल समझने के लिये नहीं, जीने के लिये है। तब वह जीवन का मूल्य बनता है।

सगुण और निर्गुण भक्ति क्या है इसका निरूपण वासुदेव कर रहे हैं :—

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।४।।

[ज्ञान, भक्ति और योग इन तीनों की सिद्धि श्री ज्ञानेश्वर महाराज के व्यक्तित्व में थी। आद्यशङ्कराचार्यरचित पाण्डुरङ्गाष्टक में—"महायोग-पीठे तटे भीमरथ्या वरं पुण्डरीकाय दातुं मुनीन्द्रैः"—पण्ढरी-नगरी को महायोगपीठ कहा गया है। ज्ञानेश्वर महाराज ने अनेक बार इस 'महायोग' को पन्थराज कहा है। हठयोग-राजयोग का रास्ता तय करके आत्मज्ञान में से आत्मबोध तक पहुँच गये हों और भक्ति सहज शील बन गया हो—ऐसे तीनों से समन्वित चित्त व व्यक्तित्वसम्पन्न को 'महायोगी' संज्ञा दी है ज्ञानेश्वर महाराज ने। इस प्रस्तुत श्लोक में कुछ हठयोग की, कुछ कुण्डलिनीयोग की बातें आयेंगी। भक्ति या प्रेम को पञ्चम व पूर्ण पुरुषार्थ कहने वाले भागवत-वरिष्ठ एवं मधुराद्वैत-प्रवर्तक परमज्ञानी ज्ञानराय की महायोगावस्था की झाँकी इस श्लोक की व्याख्या—ओवियों में आ सकती है। इसलिये यह प्रस्तावना कह रही हूँ।]

पैं वैराग्य महापावकें। जाळूनि विषयांची करकें।
अधपलीं तवकें। इन्द्रियें धरिलीं ।।४६।।

वैराग्य नामक महापावक (दाहक नहीं कहा) के द्वारा विषयों की विराट् सेना को जलाकर पावन बना दिया, जला कर नष्ट नहीं किया, बल्कि वैराग्य रूपी अग्नि में तपा कर विषयों को शुद्ध रूप में निखार दिया; जैसे सुवर्ण अग्नि में पड़ कर शुद्ध होकर निखर आता है। यहाँ वैराग्य का अर्थ नकारात्मक नहीं, विधायक-सकारात्मक है।

"मेरे प्रति अनुरक्ति। यही विषयों के प्रति विरक्ति। उससे आत्म-कृपा की स्थिति। पायी जाती ॥"

प्रभु कहते हैं—मेरे प्रति जिसकी अनुरक्ति हो गयी, वह अनुरक्ति ही विषयों के प्रति विरक्ति बन जाती है। ज्ञानेश्वर महाराज वैराग्य का अर्थ करते हैं—प्रभु के प्रति विशेष अनुराग। वह अनुराग होने पर

विषयों के प्रति उदासीनता अपने आप आ जाती है। वह धारण नहीं करनी पड़ती। छोड़ना नहीं पड़ता कुछ भी, लेकिन छूट जाता है।

प्रभु के प्रति विशेष अनुराग रखकर जिन्होंने विषयों की सेना को तपा कर पावन कर दिया, उनकी इन्द्रियों को विषयों में पदार्थों में क्या दिखता है? विषयों या पदार्थों के रूप में जो प्रभु प्रकट हुए हैं, वे प्रभु ही दीखने लगते हैं। जो इन्द्रियाँ दौड़ रही थीं कि इन इन्द्रियों से सुख मिलेगा और उस सुख का हम उपभोग करेंगे—उस सुख की अब सम्भावना न रही। विषयों में उनका निर्माण करने वाले विश्वम्भर के दर्शन होने लगे। इसलिये विषय सेवन के प्रति अभिगम बदल गया, दृष्टि-वृत्ति बदल गयी, व्यवहार बदल गया, इसलिये इन्द्रियों में अब विषयों के उपभोग के लिये आतुरता-आवेश-आवेग-अभिनिवेश नहीं है। एक सहज संयम की धारा इन्द्रियों में प्रवाहित हो गयी।

[यहाँ 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' की व्याख्या हो रही है, निग्रह-निरोध की व्याख्या का ढंग अलग है, अनोखा है। इसमें मैं अपने मन से कुछ जोड़ नहीं सकती, जोड़ना चाहती भी नहीं। अद्भुत ग्रन्थ है; मैडम ब्लॅवेडस्की ने जब इस ग्रन्थ को देखा—खन्डाला घाट में अनेक दिनों तक गुफा में रहते हुए इसका अध्ययन किया, तब उन्होंने अपने 'Voice of Silence' नाम के ग्रन्थ में लिखा है कि "दुनिया भर के साधकों के लिये साधना करना चाहने वालों के लिये इससे बढ़कर कोई श्रेष्ठ ग्रन्थ नहीं है।

मग संयमाची धाटी। सूनि मुरडिलीं उफराटीं।
इन्द्रियें कोंडिलीं कपाटीं। हृदयाचा ॥४७॥

जब इन्द्रियों की वृत्ति बदल गयी, इन्द्रियों के आवेग आवेश शान्त हो गये, इन्द्रियों में ही उपशम बस गया; तब इस संयम की घाटी से ऊपर चढ़ना प्रारम्भ हुआ। वहाँ किसी प्रकार का अतिरेक नहीं। संयम की घाटी से ऊपर ऊपर चढ़ते हुए विषयाभिमुखता से लौटा कर भीतर उलटी दिशा में चलाते हुए इन्द्रियों को हृदय-गुफा में बन्द कर दिया।

इन्द्रियों को उलटी दिशा में चला कर संयम की घाटी में ऊपर-ऊपर चढ़ते जाने में प्राणतत्त्व किस प्रकार सहायक होता है इसका विश्लेषण महाराज आगे कर रहे हैं—]

अपानींचिया कवाडा । लावोनि आसनसमुद्रासुहाडा ।
मूळबन्धाचा हुडा । पन्नासिला ॥४८॥

अपान के द्वार पर सुन्दर आसन लगाकर मूल बन्ध का किला बना लिया। (निर्गुण निराकार के उपासक साधक को 'सोऽहं'—भाव में आरूढ़ होना है, उसका एक-एक क्रम बता रहें हैं—)

आशेचें ताग तोडिले। अधैर्याचे कडे झाडिले।
निद्रेचें शोधिलें। काळवखें ॥४९॥

वज्राग्नीचा ज्वाळीं । करूनि अपानधातूंची होळी ।
व्याधींचा सिसाळीं । पूजिलीं यन्त्रें ॥५०॥

मग कुण्डलिनियेचा टेंभा। आधारीं केला उभा।
तया चोजविलें प्रभा । निमथावरी ॥५१॥

आशा के सब बन्धन तोड़ देते हैं। (जो योगमार्ग के साधक होते हैं उनका भरोसा कल पर नहीं होता; उनकी श्रद्धा आज पर होती है क्योंकि उन्हें पुरुषार्थ करना है। एक श्वास उच्छ्वास बन कर बाहर चला गया, दूसरा श्वास भीतर आयेगा या नहीं इसकी कोई निश्चिति नहीं है। इसलिये योगमार्ग के साधकों का आज पर, इस क्षण पर, 'अभी' पर पर बड़ा जोर होता है। भक्तिमार्ग में प्रतीक्षा रह सकती है कि आज नहीं तो कल होगा, परसों होगा, नरसों होगा। योगमार्ग का—पुरुषार्थ का पथ पकड़ने वाले के लिये कल नहीं है, जो कुछ है वह आज है। जीवन की शाश्वती, सनातनता आज के, अभी के क्षण में सन्निविष्ट हुए रहती है। इसलिये जो करना हो वह इसी क्षण में कर लेना है, जीवन की शाश्वती से अनन्तता को अभी इसी क्षण में भेंट लेना है—"आज का लाभ लीजिये जी 'कल' किस को दिखी !" और आशा का सम्बन्ध आनेवाले कल से है। जिन्हें कार्यों को आगे धकेलते जाने में

रुचि है—"आज नहीं होगा, कल कर लेंगे या परसों कर लेंगे!" ऐसे कर्म को टालते चले जाते हैं; जीवन में उनकी श्रद्धा नहीं है, जीने में रस नहीं है; विचार करते रहते हैं, कर्म नहीं। इस तरह आशा का सम्बन्ध कर्म के स्थगन से है। यह आशा का बन्ध जीवन को टालता रहता है। बन्धन हैं सङ्कल्प-विकल्प और वृथा चलती वृत्तियाँ। माँ आनन्दमयी के पास कोई भक्त जाकर पूछते कि "माँ! क्या करें?" तो माँ का उत्तर होता—"बाबा! हाथ पाँव तोड़ो और बैठे रहो, पड़े रहो!" सुननेवालों को समझ में न आता कि यह हाथ-पाँव तोड़ना क्या है? यहाँ महाराज कह रहे हैं—) उपासक आशा के बन्धन तोड़ देते हैं। आशा-बन्धन अर्थात् कल पर जीवन को टालते रहना, जीवन का प्राप्त कर्म न करके किसी अनुपस्थित की कल्पना करते रहना, कल्पना की तरङ्गों में खो जाना—"ऐसा होता तो! वैसा न होता तो!" इसी में जीना स्थगित रहता है, वस्तु से सम्बन्ध छूट जाता है। 'वस्तु' 'परमवस्तु' जीवन आज है इस क्षण में है, अभी है। और आशा—यानी अप्राप्त-अप्रस्तुत का चिन्तन, प्रतीक्षा, कल्पना आदि इस क्षण—वर्तमान से दूर ले जाती है, वृत्तियों को जकड़ लेती है। इसलिये कहा कि—उपासक सब से पहले आशा के पाश तोड़ देता है।

दूसरा बन्धन है अधैर्य। धैर्य का—धृतिशक्ति का—अभाव। धारणा पुष्ट होने पर धृतिशक्ति जागृत होती है। धारणाशक्ति की परिपक्वता धृति है। बात समझ में आने पर भी हम उसे जी नहीं पाते क्योंकि उस समझ में जो सत्य है, जो तत्त्व है, व तथ्य है, उसे धारण करने की हममें शक्ति नहीं होती। मन व इन्द्रियाँ इतनी चञ्चल हैं। यही मनुष्य की कठिनाई है कि सत्य-तथ्य बुद्धि में समझा जाने पर भी इन्द्रिय-गत व्यवहार में उसे जीना नहीं हो पाता।

[क्रमशः]

सूचना :—"सत्संग-संवाद" विषयक पुस्तक कुछ परिवर्धित रूप में लेखनाधीन है। अतः जुलाई में प्रकाशित न होकर प्रायः दिसम्बर तक होगी। इसमें महाबलेश्वर के ८९-९०-९१ के मराठी व अन्य प्रवचन तथा प्रश्नोत्तरियों का समवेत (हिन्दी में अनूदित) संकलन रहेगा। —सम्पादिका

"अयः स्पर्शे लग्नं सपदि लभते हेमपदवीं
यथा रथ्यापाथः शुचि भवति गङ्गौघमिलितम् ।
यथा तत्तत्पापैरतिमलिनमन्तर्मम यदि
त्वयि प्रेम्णा सक्तं कथमिव न जायेत विमलम् ॥"

[पारसमणि से लगा लोहा तुरन्त सोना बन जाता है; गलियों-नालियों का पानी गङ्गा में मिल कर पवित्र हो जाता है। वैसे अनेकों जन्मों के विविध पापों से मलिन हुआ भी मेरा अन्तस् (हृदय) सहज प्रेम से तुझ (प्रभु) में लगा-जुड़ा हुआ है तो भला क्यों विमल न होगा ??]

— 'आनन्दलहरी'

समय की कसौटी

एक बार एक कार्यकर्त्ता ने शिकायत की कि मेरा समय बरबाद हो रहा है, न कुछ काम हो रहा है न कुछ अध्ययन ही हो पा रहा है। तब विनोबाजी ने उसे लिखा :—"समय का बरबाद होना और उसका सदुपयोग होना यानी क्या ? इसकी एक कसौटी है। जिस क्षण में चित्त में कोई विकार न उठता हो उस क्षण का सदुपयोग हुआ समझना। फिर चाहे बाह्य निष्पत्ति हो या न हो। इससे उलटे, जब कि बहुत काम होता है, लेकिन चित्त में विकार-तरङ्ग उठते हों, तो उतना सारा समय बरबाद हुआ—यही समझें। फिर चाहे दुनिया की दृष्टि से उतना समय काम में लगा—ऐसा क्यों न प्रतीत हो।"

—विनोबा

© विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट व्यवस्थापिका-सम्पादिका-डॉ॰ ऊर्मिला शर्मा

❀ किसी भी प्रकार का विज्ञापन या प्रचार नहीं ❀

प्राप्तिस्थान एवं पत्र तथा मूल्यादि भेजने का पता— शिवकुटी, आबू पर्वत 307501 या 'आम्नाय', 209/1 करौंदी डाक॰ वाराणसी २२१००५ — वार्षिक मूल्य-रु॰ ३० मात्र, एक प्रति-रु. ८ + डाकखर्च

प्रकाशन—वर्ष में प्राय: चार बार, मुद्रक—तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी

कृपया शुल्क M. O. या ड्राफ्ट द्वारा ही भेजें, चेक नहीं; एवं M. O. के सन्देश-स्थान में प्रेषक का नाम व पता स्पष्ट अक्षरों में अवश्य लिखें।

वाणी-विवेक

—भगवान् महावीर

अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अन्तरा।
पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, माया मोसं विवज्जए। (द० ८.४७)

बिना पूछे मत बोलो, दो व्यक्तियों के वार्तालाप करते समय बीच में मत बोलो। पिशुन-कर्म (चुगल) मत करो, दम्भ एवं असत्य से भरी बातें मत कहो।

भासमाणो न भासज्जा णेव वम्फेज्ज मम्मयं।
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा अणुचिन्तिय वियागरे॥ (सू० १, ९:२५)
तहेव काणं काणेत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा।
वाहियं वावि रोगित्ति, तेण चोरत्ति नोवए॥ (द० ७; १२)

मर्म-भेदी बातें मत बोलो, उलझन भरी बातें मत बोलो, जो कुछ बोलो वह सोच-समझकर बोलो।

काने को काना, अन्धे को अन्धा, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी, तथा चोर को चोर इत्यादि सम्बोधनों द्वारा मत बुलाओ। (जिससे कि सामने वाले पर बुरी प्रतिक्रिया हो)—यह उन्नत अहिंसा का ही स्पष्ट उदाहरण है।

बहु सुणेई कण्णेहिं, बहु अच्छीहिं पिच्छई।
नयं दिट्ठं सुयं सव्वं भिक्खू अक्खाउ अमरिहई॥ (द० ८:२०)

बहुत सी बातें कानों से सुनते हैं, बहुत से दृश्य आँखों से देखते हैं, पर क्या सभी कुछ देखा-सुना सर्वत्र कह ही डालना चाहिए? नहीं। देखी-सुनी विश्वस्त बातों से भी लाभप्रद तथा अत्यन्त आवश्यक तथ्य ही प्रकट करना चाहिए।

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहू गुण मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्प एणं जो राग दोसे हि समोसपुज्जो॥

(द० ९/३:६)

जो व्यक्ति अवगुणों की दीवार से न टकराकर गुणों के पथ से प्रविष्ट होता है तथा स्वयं को पहचानने का प्रयत्न करता है, वही समदर्शी पूज्य है। आज हमारी वृत्ति ऐसी बन गयी है कि कहीं किसी में छोटा-सा दोष हो, तो वह पहाड़-सा दीख पड़ता है और विशालतम विशेषतायें क्षुद्रतम दीख पड़ती हैं। हमें यही वृत्ति परिवर्तन करनी है। जब यह सम्भव होगा, तब अपने आप वाणी में माधुर्य टपकने लगेगा।

[भूदानयज्ञ १२ अप्रिल '५७ से साभार] —जैन भिक्षु हस्तीमल "साधक"